संस्कृति

अंक–2 अगस्त, 2001

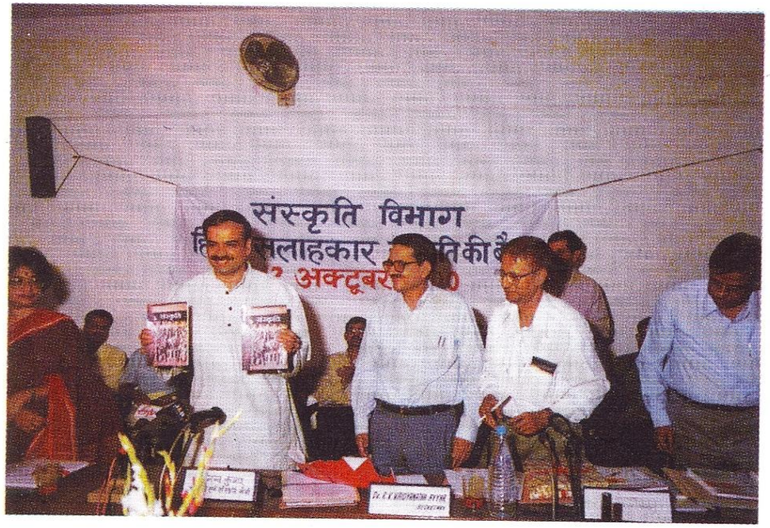

''संस्कृति पत्रिका के नवांक का विमोचन करते हुए माननीय पर्यटन और संस्कृति मंत्री श्री अनन्त कुमार''

Created by Bhartesh Mishra

अंक—2, अगस्त, 2001

अर्द्धवार्षिक

संरक्षक
नी० गोपालास्वामी
सचिव
मुख्य परामर्शदाता
कस्तूरी गुप्ता मेनन
संयुक्त सचिव
परामर्शदात्री मण्डल
वी० बी० प्यारेलाल
संजीव मित्तल
उमंग नरूला
एल० खियांग्ते
नवनीत सोनी
सत्यपाल
प्रधान संपादक
गोरख नाथ
निदेशक, रा० भा०
संपादक
यशपाल सिंह रावत
संपादकीय सहयोग
मीमांसक
रेणु नवानी
आवरण
मीमांसक
प्रथम आवरण
सांची का दक्षिणी द्वार
अंतिम आवरण
घुड़सवार ई० पू० तीसरी सदी
ईसा पूर्व, राजस्थान
भीतरी आवरण
जनजातीय कला
मुद्रक
भारत सरकार मुद्रणालय
रिंग रोड, नई दिल्ली

संस्कृति

सत्यमेव जयते

संस्कृति विभाग
पर्यटन और संस्कृति मंत्रालय
भारत सरकार

पत्रिका में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार-तथ्य लेखकों के अपने हैं, उससे विभाग, सरकार या संपादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है और न ही वे उसके लिए जिम्मेदार हैं।

संपादकीय पता
210, विज्ञान भवन एनेक्सी
नई दिल्ली—110001
दूरभाष : 3022041
फैक्स : 3022045

209-डी, शास्त्री भवन
नई दिल्ली-110001
दूरभाष : 3381498

केवल नि:शुल्क सीमित वितरण के लिए

Created by Bhartesh Mishra

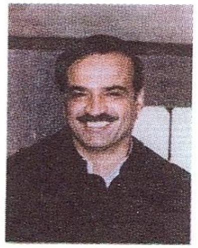

पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री
भारत सरकार
नई दिल्ली 110001

MINISTER OF TOURISM AND CULTURE
GOVERNMENT OF INDIA
NEW DELHI 110001

अनन्त कुमार
ANANTH KUMAR

संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हो रही है कि संस्कृति विभाग भारतीय संस्कृति के विभिन्न विद्वानों के लेखों पर आधारित अपनी ''संस्कृति'' पत्रिका का दूसरा अंक निकालने जा रहा है। इस पत्रिका के माध्यम से इसके पाठकों, बुद्धिजीवियों, शोधार्थियों को स्वाध्याय, चिन्तन-मनन तथा अनुशीलन हेतु रचनात्मक योगदान में मदद मिलेगी।

मैं इस पत्रिका की सफलता की कामना करता हूँ।

(अनन्त कुमार)
पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री

संस्कृति

सचिव
भारत सरकार
पर्यटन और संस्कृति मंत्रालय
संस्कृति विभाग
नई दिल्ली-110 001
SECRETARY
GOVERNMENT OF INDIA
MINISTRY OF TOURISM AND CULTURE
DEPARTMENT OF CULTURE
NEW DELHI-110 001

नी० गोपालास्वामी
N. GOPALASWAMI
Tel. : 3386995, 3381040
Fax : 3384093

संदेश

यह जानकर मुझे सुखद अनुभूति हुई कि विभाग का राजभाषा प्रभाग भारतीय संस्कृति के विभिन्न विद्वानों के संस्कृति के पल्लवन, पोषण और उन्नयन से संबंधित उनकी मौलिक रचनाओं को ''संस्कृति'' पत्रिका के दूसरे अंक में प्रकाशित करने जा रहा है।

मुझे आशा है कि सुधी पाठकों का हमारी भारतीय संस्कृति के साहित्य एवं लोक कलाओं के संरक्षण एवं संवर्द्धन के बारे में यह मार्गदर्शन करेगा।

मैं इस पत्रिका के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

(नी० गोपालास्वामी)

Created by Bhartesh Mishra

प्रधान सम्पादक की ओर से

किसी भी देश की संस्कृति की पहचान वहां की भाषा, साहित्य, कला और उत्सव से होती है। लोककला, लोक उत्सव और लोकगीतों में देश की संस्कृति ही नहीं बल्कि इतिहास भी रचा-बसा होता है। भारतीय लोकगीतों में हमारी संस्कृति और सभ्यता का स्पंदन है। इनमें भारतीय लोकजीवन की झांकी तो है ही आधुनिक भावबोध भी है। इन लोकगीतों में भारत की लोक संस्कृति सुरक्षित है। इनमें हम भारत की बहुरंगी संस्कृति की तस्वीर निहार सकते हैं। प्रस्तुत अंक में हमने ऐसा लघु प्रयास किया है।

इस अंक में डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी का लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने ठीक ही लिखा है कि जीवन की पूर्णता सत्यं शिवं सुंदरम में ही है। आदर्श की उपलब्धि का पंथ इसी त्रयी से बना है। डा. परमानंद पांचाल ने मुगल सम्राट शाहजहां के राजसिंहासन तख्त-ए-ताऊस का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया है। आज यह राजसिंहासन कहां है, किसी को नहीं मालूम। छोटानागपुर की संस्कृति विशेष रूप से पठनीय है। डा. श्रवण कुमार गोस्वामी ने वहां की जनजातियों के बारे में तथ्यों और करम-धरम की पांच कथाओं के जरिये रोचक जानकारी दी है। खेल-तमाशे और लोकनाट्यों से राजस्थान की संस्कृति का परिचय करा रही हैं डा. उषा कटारा। डा. मधुसूदन मिश्र ने सिंधु घाटी सभ्यता की भाषा और लिपि पर तथ्यात्मक जानकारी दी है। प्रो. रामगोपाल शर्मा ने अपने लेख में हिन्दू और बौद्ध धर्मों में दार्शनिक चिन्तन और इसके द्वारा मानव कल्याण का उल्लेख किया है वहीं दूसरी ओर श्री इम्तियाज़ अहमद ने पटना के अज़ीमाबाद के प्राचीन इतिहास का वर्णन प्रस्तुत किया है। श्री हिमांशु जोशी ने थाईलैण्ड में हमारी भारतीय संस्कृति की झलक प्रस्तुत की है। इसके अलावा, जहां एक ओर श्रीमती धीरा वर्मा के लेख में भारतीय लोक संस्कृति के प्रतीक चिन्हों के माध्यम से भारतीय हिन्दू परिवारों में स्वास्तिक और मंगल कलश के बारे में जानकारी मिलेगी वहीं दूसरी ओर सुश्री गरिमा श्रीवास्तव के आलेख में विश्वभारती संस्कृति की आद्योपान्त जानकारी मिलेगी। कहा जाता है कि मंगल कलश में विष्णु, रूद्र, ब्रह्मा के अलावा समस्त देवता, गायत्री और सावित्री सप्त-सागर, सप्त-सरिता, सप्त-द्वीप, पृथ्वी और चारों वेद निवास करते हैं।

अंत में मैं माननीय श्री अनन्त कुमार, पर्यटन एवं संस्कृति मंत्री तथा पत्रिका के पूर्व संरक्षक डा. आर. वी. वैद्यनाथ अय्यर का विशेष रूप से सादर आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस विभाग में 'संस्कृति' पत्रिका का प्रकाशन फिर से शुरू कराया। मैं पत्रिका के वर्तमान संरक्षक श्री नी. गोपालास्वामी, सचिव (संस्कृति) का भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने इस पत्रिका के सफल प्रकाशन के लिए शुभकामनाएं दी हैं। इनके अलावा, मैं सम्पादकीय मंडल के सर्वश्री वी. बी. प्यारेलाल, निदेशक, श्री संजीव मित्तल, निदेशक, श्री नवनीत सोनी, उप सचिव, श्री उमंग नरुला, उप सचिव, श्री वाई. एस. रावत, उप निदेशक (राजभाषा), श्री प्रयाग शुक्ल, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, श्री मीमांसक, सहायक निदेशक (राजभाषा), राष्ट्रीय अभिलेखागार तथा सुश्री रेणु नवानी, हिन्दी अधिकारी, राष्ट्रीय संग्रहालय का भी आभारी हूँ जिन्होंने इस पत्रिका के प्रकाशन में अपना सहयोग दिया है। मैं विद्वान लेखकों का भी विनम्र आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने कम समय में अपनी खोजपूर्ण रचनाएं भेजी। पत्रिका को पठनीय और सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए हम सभी प्रयासरत हैं। इस पत्रिका को और अधिक चित्ताकर्षक और सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए यदि आप कोई सुझाव देना चाहें तो उसका हम स्वागत करेंगे।

(गोरख नाथ)
प्रधान सम्पादक

Created by Bhartesh Mishra

विषय—क्रम

सत्यं शिवं सुन्दरं का आदर्श और हमारा जीवन	डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी	1—6
सांस्कृतिक समन्वयन और अनुवाद	डा. एन. ई. विश्वनाथ अय्यर	7—14
डोगरी लोकगीतों की दुनिया	श्रीमति पद्मा सचदेव	15—22
तख्त-ए-ताऊस	डा. परमानन्द पांचाल	23—27
छोटा नागपुर की संस्कृति और करम-पर्व	डा. श्रवण कुमार गोस्वामी	28—39
राजस्थान के खेल-तमाशे और लोक नाट्य	डा. उषा कटारा	40—45
सिन्धु घाटी सभ्यता की भाषा और लिपि	श्री मधुसूदन मिश्र	46—50
लोकगीतों में थिरकते आजादी के बोल	श्री गोरख नाथ	51—54
हमारे सांस्कृतिक प्रतीक—स्वस्तिक और मंगल:कलश	श्रीमती धीरा वर्मा	55—58
भोजपुरी लोकगीत—शैली पवाँरा	डा. रमाशंकर श्रीवास्तव	59—63
कविताएं और चित्र साथ-साथ	डा. सादिक	64—69
हिन्दू एवं बौद्ध धर्मो में मानव-कल्याण-चिन्तन तथा करुणा की विश्व—संस्कृति	प्रो. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'	70—74
थाईलैण्ड—भारतीय संस्कृति जहां आज भी जीवित है	श्री हिमांशु जोशी	75—82
अज़ीमाबाद : पटना के सांस्कृतिक इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय	डा. इमत्याज़ अहमद	83—89
यत्र विश्वं भवत्येक नीड़म	गारिमा श्रीवास्तव	90—98

'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' का आदर्श और हमारा जीवन

डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी

कहा जाता है कि आदर्श और जीवन एक-दूसरे के अनुरूप नहीं होते, क्योंकि जीवन का मतलब वास्तविकता से है, जो आदर्श से अवश्य ही भिन्न है, अर्थात् आदर्श के दर्शन-अन्वेषण के लिए हमें जीवन से परे कहीं देखना होगा, और इस मान्यता से 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' का आदर्श यदि कुछ है तो जीवन से परे भी हमारी दृष्टि का अन्वेषण उसे खोजने का यत्न करे, यह सर्वथा अनिवार्य है। किन्तु इस वक्तव्य का सत्य जीवन की संकुचित परिभाषा के एकान्त विश्वास की सीमा से ही निर्धारित होता है, जीवन की परिभाषा बदल जाने से, व्यापकतर हो जाने से, यह विश्वास सत्य और मान्यता का सहगामी नहीं रह पाता।

जीवों की समस्त किया-प्रक्रियाओं को जीवन कह सकते हैं। मनुष्य के जीवन के दायरे में मनुष्य की आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक सभी क्रिया-प्रक्रियाएँ आयेंगी। एक मानसिक अन्तर्द्वन्द्व या आध्यात्मिक अनुभव या जगत् की वस्तु का सत्य सभी मनुष्य के जीवन की घटनाएँ हैं। उनके मानसिक तथ्य-तत्व भूत-जगत् के वस्तु-सत्य से किसी भी प्रकार कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। वे भी उसके जीवन के आवश्यक और अन्तर्बद्ध अंग हैं। जीवन अतएव वस्तु-जगत के परे और अतिरिक्त भी जिया जाता है। हम उसे अपनी आत्मा के लोक में, मेघा के संसार में तथा इन्द्रियों के जगत् में विविध व्यक्ति-माध्यमों के द्वारा अनुभूत करते हैं। वे उस जीवन से अभिन्नतया आबद्ध हैं, अर्थात् मनुष्य के बाह्य कार्य-समूह का अभिधान ही जीवन नहीं, चिंत्य, अनुभूत और आत्मसात भी जीवन-चित्र को आकृति, मुद्रा, प्रभाव और प्रयोजन प्रदान करता है, इस प्रकार कि जैसे फूल और फल में मिट्टी, पानी, जैसे पात्र में आकर ऐसे कि जैसे कोई सचेतन प्रयोजन मूर्तिकार की कला-सामग्री में प्रविष्ट होकर अन्दर-ही-अन्दर उसका रूप और आकार गढ़ता रहे।

अभिलाषाओं के नक्शे में आदर्श की स्थिति गौरीशंकर श्रृंग की सी हैं। जीवन में व्यवहार या विचार में, जिसे व्यक्ति सर्वोच्च प्राप्य समझ सके, वह इष्ट और अभिप्रेत का सा प्यार

Created by Bhartesh Mishra

और पूजा अर्पित कर सके, जो उसके भावों का उल्लास हो, मन का संगीत, अहं की आकांक्षा हो, जो उसका नाप और मान हो—वही आदर्श है। दूसरे शब्दों में, अपने व्यक्तित्व की संभावनाओं की विराटतम, विशालतम अभिव्यक्ति का नाम ही वह आदर्श रखता है। आदर्श यों एक व्यक्तित्व चित्र बन जाता है, व्यष्टि-व्यष्टि की भिन्नताओं के साथ, किन्तु इन चित्रों के अन्तर्भूत सिद्धान्तैक्य का पर्यावलोकन हमें आदर्श के सर्वजनीन सर्वमान्य माप-मान का सामान्य संकेत बताता है। यही ''सत्यं-शिवं-सुन्दरं'' के आदर्श की आधारशिला है। दूसरी प्रक्रिया समाज से व्यक्ति की ओर संक्रमित होते हुए आदर्श की प्रवाह-धारा में दृष्टिगोचर होती है। समाज का समष्टिगत आदर्श व्यक्ति-व्यक्ति की सीमाओं में वितरित एवं विभक्त होकर, व्यक्तिगत दशाओं से परिवर्तित-परिवर्धित होकर सामाजिक और वैयक्तिक आदर्शों का प्रारूप बनाता है। जैसे सरोवर के फैले हुए जल में तैरते हुए कुम्भ-पात्रों में सरोवर का ही थोड़ा-सा जल भरा रहता है, सरोवर जैसे समष्टि का आदर्श हो और कुम्भोदरनिहित जल मानो वह हो, जिसे व्यक्ति ने समाज के सरोवर से लेकर अपना आदर्श बनाया। समाज की अन्तरात्मा और अन्तर्नयन इस आदर्श के द्रष्टा होते हैं, मनुज भी अपनी सामाजिक अन्तदृष्टि और समष्टिगत अनुभूति की राह उस दर्शन और भाव को व्यक्तिगत बनाता है। यों, उस सामाजिक आदर्श का शिलान्यास होता है, जो अपने प्रभाव और परिणाम की प्रक्रिया में व्यक्तिगत दृष्टिलोक का प्रभाव और प्रजनन करता है।

''सत्यं-शिवं-सुन्दरं'' का आदर्श व्यक्तियों के अन्तर्भूत सिद्धानतैक्य का पूंजीभूत स्वरूप है, या समाज की आत्मानुभूमि और मान्यता द्वारा विपरीत और संक्रमित कल्पना है—इसका निश्चय अतीत दु:साध्य है। प्रतीत तो ऐसा होता है कि वह दोनों ही पहलुओं से घनिष्टतया संग्रंथित है। यदि उसका उद्‌भव व्यक्ति की परिधि में माना जाय तो समाज की स्वीकृति निहिताभिप्राय है। यदि समाज की आत्मानुभूति में उसका उद्‌भव हुआ है तो व्यक्ति का विचारैक्य और समाज अनुभूति स्वत: मान्य है। सत्य तो यह है कि ''सत्यं-शिवं-सुन्दरं'' का आदर्श एक

अत्यन्त व्यापक प्रतीति है, व्यापक गत्यामकता के अर्थ में भी, व्यापक सुविस्तृत होने के अभिप्राय से है। वह एक ही साथ सामाजिक आदर्श भी है, और उपादेयता में सर्वत्र ही सत्य है, और अभिप्रेत भी है। क्षितिजलीला की तरह उसका क्षेत्र व्यापकतम अप्राप्य है, किन्तु जीवन के लीलापट पर उसके आंगिक और पक्षीय सत्य-दर्शन का वैभव उसकी सरस और विराट निखिलता का परिचायक है।

अपनी चिरन्तनता में भी वह जीवन में क्षण-क्षण पर बदलते हुए धारा प्रवाहों को अन्तर्निहित किये हुए है। इसी अर्थ में वह शाश्वत होकर भी सामायिक है, परिवर्त्य होकर भी नश्वर नहीं है। इसी माने में ''सत्यं-शिवं-सुन्दरं'' के आदर्श में गति के गुण स्पन्दित होते हैं वह गत्यात्मक है। आदर्श यही रहता है, इष्ट की आकृतियाँ यही रहती हैं, किन्तु व्याख्याएँ बदल जाती हैं, दृष्टिकोण दूसरा हो जाता है। अब तक भ्रूविलास की कांति सुन्दर थी, तो अब भ्रूभंग की कांतिमयता स्थानापन्न हो गयी है। अब तक यदि सुन्दर की परिधि में ही विश्व परिगण्य था तो अब शिवं की संपादन-सीमा में ही सुन्दरता सन्निहित है। सत्य की धाराएँ भी इसी प्रकार बदल जाती हैं। सत्य, या जिसे विवेकसिद्ध मान्यता कह लीजिए, जीवन की विविध रीतियों और विश्वासों का अनुचर है। विवेक संस्कार का परिणाम है। संस्कार उत्तराधिकार और वातावरण में मूलबद्ध रहता है। उत्तराधिकार को निर्णायिका प्रवृत्ति और वातावरण की सांकेतिक दिशा-निर्देशिका दोनों ही बदलती हैं, नवीन और विविध परिवर्तनों का उद्‌भव करती हैं। इस सत्य-दर्शन के ओर इसी प्रकार इस आदर्श के विविध पहलुओं को देखने के कोण बदलते हैं, रंग बदलते हैं। किन्तु जब भी इस सतत परिवर्तन के प्रभंजन में इस आदर्श की चिरन्तनता निर्विवाद है।

सत्य के रूप-विशेष पर विवाद होता है; किन्तु वादी-प्रतिवादी दोनों ही अपनी मान्यता को सत्यता का गौरव देने के लिए खूब आतुर और उत्सुक भी रहते हैं। सत्य तो आदर्श तब भी रहता है, विवाद व्याख्या पर होता है; और यह समझ लेने की आवश्यकता है कि यह चिरंतन सत्य, नाम मात्र का ही नहीं, भाव और अभिप्राय का भी है। मोटे तौर पर सत्य न्याय है। 'न्याय', तर्क की प्रक्रिया से प्राप्त प्रतीति है। तर्क अन्तिम कभी नहीं हो सकता। बुद्धि और वातावरण के परिमार्जन और परिवर्तन के साथ तर्क की मान्यताएँ तिथिक्रम-शून्य होकर मृत और अमान्य हो जाती हैं। नयी मान्यताएँ, नये आधार और नयी राहें उनका स्थान ले लेती हैं। न्याय संगत इस प्रकार सदैव एक-रूप ही नहीं रहता। उस अनेकता में एकता ही सत्य है। वह एकता ही सत्य है। यह एकता शाश्वत है, और इसलिए सत्य भी शाश्वत है। क्षण-क्षण और युग-युग की न्याय-बुद्धि में जो चिरन्तन तथ्य है, वही सत्य है। समय या युग विशेष का सत्य न्याय है, तो युगों की न्यायबुद्धि में एकसूत्रता के सामंजस्य का नाम सत्य है। सत्य की सापेक्षता पर बहुत गहन विचार और विवेचन हुआ है कि सत्य एकांकी नहीं, अपितु सापेक्ष होता है। इस वक्तव्य की सुस्पष्ट तर्कसिद्धता निरापद है और दृष्टिकोण की भिन्नता, जिसके मूल में शायद प्रस्थिति और वातावरण का अन्तर है, हमारी धारणाओं को भिन्न धरातल पर पहुँचा देती है, यह ज्ञान की प्रक्रिया के दृष्टा के लिए नया सत्य नहीं है। दार्शनिक स्याद्वाद के सात वक्तव्यों को इस वैचारिक सापेक्षता के

Created by Bhartesh Mishra

सामंजस्य से देखा जाय तो सत्य की प्रवृत्ति और स्वभाव का आभास मिलता है—वहीं पक्षीय सत्य और पूर्ण सत्य का भिन्नत्व हमारे समक्ष आता है। पक्षीय सत्य के लिए, जैसाकि छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है : 'वाचारम्भणम् विकारोनामधेयम्' एक दृष्टि से समय का सत्य, स्थान का सत्य आदि पक्षीय सत्य हैं। चिरन्तन एकसूत्रता पूर्ण सत्य का आभास है।

कहते हैं, समाज का सत्य भी होता है, व्यक्ति का भी सत्य होता है, किन्तु वास्तव में इस भिन्नता और वैविध्य में जो शाश्वत माननीय दृष्टि है, वही सत्य है, समाज विशेष का सत्य समय और विस्तार की सीमाओं से परिमित रहता है। व्यक्ति का एकान्तिक सत्य भी स्वार्थ, समय और विस्तार में संकुचित बन जाता है। सत्य इनको चिरन्तन एकसूत्रता में मिल पायेगा। समाज व्यक्तियों का अंकगणित समूह नहीं है। उसे एक आंगिक संगठन कहा जाता है। उस आंगिक संगठन की जो सामान्य वाणी है, वही समाज का सत्य या जिसे रुसो ने वास्तविक इच्छा कहकर पुकारा है, कहा जा सकता है। किन्तु क्या सचमुच कोई ऐसे आंगिक समाज की तथाकथित सामान्य वाणी संभूत या सम्भव है, जिसे ग्रन्थकारों ने कल्पना की बुनकरी और बाग्जाल अथवा वाक्छल के ताने-बाने में सजा कर सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उसके न होने के बारे में ही नहीं, न हो सकने के बारे में भी, हमें पर्याप्त विश्वास की गुंजाइश दिखती है। जिसे आंगिक समाज की सामान्य इच्छा कह कर ग्रन्थकार हमारे मस्तिष्क में उतारना चाहता है, वह कौन जानता है कि हल्लावादियों का प्रतीक्षण प्रचार ही नहीं हैं? कैसे समझा जाय कि जिसे आंगिक समाज की इच्छा कह कर गुरुत्व दिया जा रहा है वह एक तानाशाही सरकार की प्रस्तावना ही नहीं है? आंगिक समाज की कल्पना में तथ्य हो सकता है, किन्तु उसकी सामान्य इच्छा या तो एकमात्र छद्मवेदी छलना है, अथवा ग्रन्थाकार की मानसिक अस्पष्टता और अव्यावहारिक तथा अवास्तविक सूझ मात्र है। समाज का सत्य इसलिए इस आंगिक समाज की सामान्य इच्छा का ठीक अनुरूप नहीं। वह भी मनुष्य के सत्य का ही उपांग है। मनुष्य का सत्य एकांगी स्वार्थ द्वारा निर्धारित नहीं होता। उसकी करुणा, सहानुभूति, संवेदना, स्वार्थ और आत्माभिव्यंजन आदि संगृहीत होकर उसके सत्य को जन्म देते हैं। मनुष्य का सत्य समाज से, वातावरण से संस्कार लेता है, रूप-आकार लेता है, दिशा लेता है, किन्तु उस पर एक अद्वितीय वैयक्तिक मुद्रा अवश्य रहती है।

इस आधार पर सत्य को हम मनोविज्ञान की प्रत्यभिज्ञा का पर्याय कह सकते हैं। सत्य जानने की क्रिया का फल और परिणाम है। हमारे चेतन-उपचेतन में जो संस्कार, जो विश्वास, जो ज्ञान निवास करता है, वही हमारा सत्य है। यह सत्य घटनात्मक नहीं, अपितु भावनात्मक (Abstract) होता है, अर्थात् प्रत्यभिज्ञा की भावनात्मक एकसूत्रता का पूर्ण प्रभाव ही सत्य है। सत्य का आदर्श उसकी एकांगिता में नहीं, व्यापकता में है; घटना में नहीं, भाव में है; विशिष्टता (Particularity) में नहीं, सामान्यतः (Generality) में है; संकुचित दायरे में नहीं, विस्तृत और उदार दृष्टिकोण में है।

''सत्यं-शिवं-सुन्दरं'' की त्रिमूर्ति में एक ही सत्य-रूप की प्रतिष्ठा है। सत्य कर्तव्य-पथ ब्बदंजपवद में आकर शिवं बन जाता है और भावना (Affection) से समन्वित होकर सुन्दरं के रूप में दर्शन देती है। सत्य शिवं की कारयित्री प्रेरणा है। वह उसकी आधारभूमि है और उद्भव क्षेत्र भी है। व्यक्ति का उदात्त शिवं-भाव ही समाज का सत्य है। शिवं मूलतः एक सामाजिक स्फुरण है। उसका वेग और परिणाम भी सामाजिक ही है। साहित्य के क्षेत्र में इसका शास्त्रीय समानान्तर साधारणीकरण में मिलता है। 'परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च' अथवा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्रेरणा से कर्म-प्रवृत्त और कृतसंकल्प समाजकेन्द्रिक संयोजनाएँ शिवं का मूल आधार हैं। शिवं भी सत्य ही की तरह भेद में अभेद या विपरीतताओं में ऐकय के समान है, वह एकांगी नहीं हो सकता। 'स्वात्मनि एवं समाप्त महिमा' की आपाधापी शिवं का प्रेय नहीं है, वह समाज के, जगत के कल्याण की ओर अपनी दृष्टि स्थित करके चलता है। जिसे आधुनिक युग में सामाजिक हित-संपादन का परिवर्धन (Maximisation of Social Welfare) कहते हैं, वहीं शिवं है। सामाजिक को व्यापकतर बनाकर सृष्टिगत किया जा सकता है। हित की सीमाएँ जीवन के प्रत्येक भाग और कोने को छूती हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को इष्ट बनाकर हित की प्रेरणा विकास की संपूर्णता का दर्शन करती रहे। सत्य और सौन्दर्य का फलीभव शिवं में ही होता है।

सौन्दर्य भी सत्य का ही स्वरूप है। भावना के क्षेत्र में, जैसा कि दादू की भूमिका में रवीन्द्र ने कहा है—सत्य की पूजा सौन्दर्य में है, जैसे कि विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है। भावना का जगत कोमल तंतुओं से निर्मित होता है। सुन्दरं के स्थान पर भारतीय साहित्य में 'प्रिय' शब्द का प्रयोग हुआ है। वास्तव में 'सुन्दर' शब्द में 'प्रिय' व्यापक और समुचित भी है। वह एक मनोवैज्ञानिक ऐटीट्यूड भी बताता है। सुन्दरं का अभिप्राय अत्यन्त गत्यात्मक है, होना चाहिए। 'समै समै सुन्दर सबै, रूप कुरुप न कोय, मन की रूचि जेती जितै, तित तैसी रूचि होय' की उक्ति में अन्तराल का महान सत्य है। सौन्दर्य की, सत्य की, कल्याण की सभी धारणाएँ सतत परिवर्तनशील हैं। यथार्थवाद जिस प्रकार छायावाद के सौन्दर्यबोध से विपरीत खड़ा होकर विकास-श्रृंखला की एक महत्वपूर्ण-चाहे प्रतिक्रियावादी ही कड़ी है, उसी प्रकार सौन्दर्य की धारणा सदैव बदलने वाली है। यद्यपि उनमें क्रान्तिकारी वैपरीत्य इसलिए संभव नहीं कि मनुष्य की प्रवृत्तियाँ, आदतें और भावनाएँ, जो कि सौन्दर्यबोध का मूल उत्स है, इस प्रकार नहीं बदल सकती। सौन्दर्य की परिभाषा, कि सौन्दर्य हमारी इन्द्रियों के रूप-संबंधों की अन्तर्भूत एकता है, पर्याप्त संतोषजनक है, किन्तु इससे आधुनिक (Asymmatrical Art) का वर्गीकरण कहाँ होगा, यह आपत्ति उठती है। यहाँ 'प्रिय' शब्द की श्रेष्ठता सिद्ध होती है, या यों कहिए कि यहाँ 'प्रिय' शब्द सुन्दर की परिभाषा देता है। यदि आधुनिक कला प्रिय है तो वह हमारे आदर्श की परिधि से बहिर्गत नहीं मानी जायेगी। सौन्दर्य कलात्मक या पर्याय नहीं भी हो, तो उसमें अन्तर्निहित तो अवश्य है। साहित्य का सहित-भाव सौंदर्य कलात्मक का पर्याय नहीं भी हो, तो उसमें

Created by Bhartesh Mishra

अन्तर्निहित तो अवश्य है। साहित्य का साहित्यभाव सौंदर्य का ही द्योतक है। सौन्दर्य एक द्रावी प्रभाव है। वह अपने वेग में और ऊष्मा में, आत्मीयता में और सहानुभूति में हमारे मन पर अधिकार कर लेने में समर्थ है। इसीलिए वह सत्यं और शिवं का प्रभावशाली माध्यम कहा जा सकता है। हमारा जीवन उस प्रभाव के छायामाधुर्य में उदात्त बनता है मंगलमय बनता है और उल्लास की रागिनियों से सजीव बनता है। प्रयोजन का वह माध्यम ही नहीं, स्वयं प्रयोजन भी है। इसलिए कि यदि आनन्द हमारे जीवन का विश्रान्ति-उपवन है तो सौन्दर्य उस उपवन में प्रसूत सुवास और माधुर्य है।

यह आदर्शत्रयी अत: जीवन की चिरन्तनता में अंकित है। पूर्ण जीवन का स्वप्न इन तीनों के अन्तर्बद्ध 'सच्चिदानन्द' की कल्पना के बिना अधूरा ही है।

पंत जी के शब्दों में :

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप,
हृदय में बनता प्रणय अपार,
लोचनों में लावण्य अनूप,
लोक-सेवा में शिव अविकार।

जीवन की पूर्णता के आदर्श की उपलब्धि का पंच इसी त्रयी से निर्मित हुआ है। जहाँ सत्य ही शिव है और शिव ही सुन्दर है, तीनों एक में, और एक तीनों में अन्तर्भूत—वह आदर्श हमारे जीवन का सर्वोच्च इष्ट है। वही सार्थक जीवन है।

सांस्कृतिक समन्वयन और अनुवाद

डॉ० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर

वन के मचानों में और गुफाओं में थोड़े से आदिवासी अब भी रहते हैं। एक जमाना था जबकि ज्यादातर लोग ऐसे ही रहते थे। जानवरों की खाल या पेड़ों की छाल से बदन की नंगाई कुछ-कुछ ढकते थे। उस प्राचीन युग से हम इक्कीसवीं सदी में पहुँच गये हैं। इस लंबी यात्रा में मानव समाज का हर दिशा में विकास हुआ है। मानवजीवन के दो पक्ष हैं—भौतिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन। भौतिक जीवन के मुख्य आधार हैं, रोटी, कपड़ा और मकान। ये शब्द एक-एक वस्तु के बोधक होने के साथ प्रतीकात्मक भी हैं। आदमी की पढ़ाई, धंधा, यात्रा, परस्पर संवाद, सामाजिक सम्बन्ध आदि भी भौतिक जीवन के अंग हैं। आध्यात्मिक जीवन के तत्व तो अधिक नहीं बदलते।

संस्कृति और सभ्यता

विद्वान लोग भौतिक जीवन के विकास के मूल्यांकन में दो शब्दों का उपयोग करते हैं—संस्कृति और सभ्यता। इन दोनों शब्दों का प्रयोग अंग्रेजी के 'कल्चर' एवं 'सिविलाइजेशन' के अनुवाद के रूप में चालू हो गया है। ये दोनों शब्द एक दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र नहीं, बल्कि परस्पर अभिव्याप्त हैं। दोनों भाववाचक संज्ञाएँ कुछ संकल्पनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस व्यापक विषय का अपूर्ण दिग्दर्शन ही कम करा सकते हैं।

मानव का सबसे मुख्य बंधु प्रकृति है। कवियों के शब्दों में मानव प्रकृतिमाता की गोद में पलकर बड़ा होता है। भौगोलिक दृष्टि से प्रकृति बदलती रहती है। कहीं चिलचिलाती धूप का रेगिस्तान है जहाँ पानी दुर्लभ रहता है। कहीं हिम की ठंड जीवन को कठिन बनाती है। कहीं लहलहाती हरियाली है तो कहीं चट्टानें ही रहती हैं। मगर मानव इन सभी परिस्थितियों में जीता है। वह अपने प्राकृतिक वातावरण में जीने का आदी हो जाता है। आदिवासी खेती थोड़े ही करते थे। वे तीर-कमान और छुरा-कटार से जीवों की हत्या करके उनका गोश्त खाते थे। उनकी

2603 Culture/2001—2A

Created by Bhartesh Mishra

पीढ़ियों का विकास जब होता गया तब उनकी अपनी संस्कृति बन गई। वे जानवरों की खाल व पेड़ों की छाल से अपनी नग्नता ढकने लगे। उनके देवताओं की संकल्पना फैलती गई। कई युग-बीतते चले। इन्हें इतिहासकारों ने शिलायुग, लौहयुग, ताम्रयुग आदि नाम दिये।

समाज का नया वर्गीकरण

नागरिक विकास जब शुरू हुआ तब लोग सम्मिलित होकर रहने लगे। यातायात, परस्पर संवाद, वस्त्राभूषण, धार्मिक विचार आदि का विकास सुलभ होता गया। इसके फलस्वरूप नागरिक संस्कृति रूपायित होने लगी। संस्कृति व सभ्यता के विकास के दौरान मानव-समाज में अनेक प्रकार से आपस में वर्गीकरण कर लिया। देश-देश में इसकी रूपरेखा बदलती थी। भारत में चातुर्वर्ण्य इसका एक युग सूचित करता है। कालान्तर में खेती वर्गीकरण का माध्यम बनी। खेत के मजदूर व खेत के मालिक दो भिन्न वर्ग थे। धर्म के क्षेत्र में छोटे बड़े का वर्गीकरण हुआ। ऐसे वर्गों का ध्रुवीकरण होता चला तो वे सामाजिक जीवन में परस्पर दूरी पालने लगे।

युग बदलते गये तो समाज के ढाँचों में अंतर होता गया। परस्पर दूरी कम हो चली। वर्गीकरण का ढाँचा भी बदलता रहा। एक जमाने में हिन्दू धर्म में वर्णाधारित उच्चता-नीचता दृढ़ थी। जब अन्य धर्मों के फैलाव ने संकट पैदा किया तब लोग अपनी रुढ़ि रीतियाँ छोड़ने लगे। इसके पीछे शासन व राजनीति का प्रभाव भी था। पश्चिम के सम्राट के शासन ने भारत के परंपरागत सामाजिक ढाँचे में दरारें डालीं। नया वर्गीकरण होने लगा। सामाजिक गठन की कसौटी अब खेती, व्यापार, नौकरी, अफसरी आदि बन गई। सभ्यता के नये प्रतीक सुलभ हुए। होटल, रेलगाड़ी, बस, अस्पताल, दुकान आदि की व्यवस्था ने समाज में तहलका मचा दिया। लोग इन साधनों का उपयोग करके परस्पर अनजाने मिलते थे। यों आधुनिक पश्चिमी शिक्षा-पद्धति ने पूरे समाज को एकतामय बनाया। यों जो सम्मिलन हुआ उसने सांस्कृतिक सम्मिलन प्रारंभ कराया। अब तो पेशे के अनुसार, संस्कृति की चर्चा होती है। कई धर्मों और समाज के कई स्तरों से आनेवाले एक पेशे में आ जाते हैं तो उन सबकी पेशागत संस्कृति एक हो जाती है। इसी का प्रकट स्वरूप आजकल के अखिल भारतीय कार्मिक संगठनों के रूप में दिखाई देता है।

संस्कृति की विविध दिशाएँ

फूल और महक

फूल की महक का अनुभव हम सब करते हैं। किन्तु फूल से महक को अलग करके दिखाना नामुमकिन है। किसी खास चीज को छूकर दिखाना भी मुश्किल है कि यह संस्कृति का आधार है। बिहार, असम, बंगाल और दक्षिण भारत में चावल ही मुख्य भोजन में काम आता है। इस पर तमिलनाडु में अरवा चावल खाते हैं तो केरल में उसना चावल। केरल के देहातों में बकरी का दूध खूब चलता है। तमिलनाडु व आन्ध्र में भैंस का दूध ज्यादा चलता है। हम जब पढ़ते हैं

कि सऊदी में मेहमान को ऊंटनी का दूध दिया जाता है जब हमें ताज्जुब हो सकता है। इस प्रकार का अंतर क्षेत्रीय संस्कृति का परिणाम है। जब ये सब नये युग के कारखाने में काम करके किसी होटल में नास्ता-खाना लेते हैं तब पावरोटी, मक्खन, आमलेट वगैरह खाते हैं। इस पर अकबर ने व्यंग्य किया था – 'रहे होटलों में मरे अस्पताल में।' इस पंक्ति में आधुनिक सभ्यता का दु:खद प्रसंग है।

परंपरा और प्रगति संस्कृति के नियंत्रक हैं। परंपरा की कड़ी काफी लंबी और मजबूत होती है। उसे तोड़कर प्रगति को स्वीकार करने में कई उलझनें रहती हैं। धर्म, जाति, बिरादरी आदि परंपरा के पोषक हैं। वैसे व्यक्तिगत साहस से फिलहाल प्रगति की तरफ उछलने पर भी अंतरंग में परंपरागत संस्कृति रहती है। एक ही गांव व शहर में परंपरा व प्रगति के प्रतीक सुलभ हैं। नागरिक जीवन इस भेदभाव की दरार को कुछ-कुछ पाट देता है।

विदेशों से भारत का संपर्क

भारत सचमुच बहुत बड़ा देश है। इसका इतिहास संस्कृतियों के संघर्ष और समन्वयन की गवाही देता है। जैसे छोटी-बड़ी नदियां अपना जल महानदी को समर्पण कर देती हैं वैसे ही अनेक उपसंस्कृतियां अपना उत्तराधिकार बड़ी संस्कृति को सौंप देती हैं। भाषा के क्षेत्र में ये धरोहर के रूप में अन्य भाषाओं का विकास कर देती हैं। ग्रीक देश की संस्कृति ने प्राचीन भारत को, संस्कृत भाषा को भी प्रभावित किया। जितने भी विदेशी आक्रांता आये और यहां कुछ दिन रहे उनकी संस्कृति का भी कुछ न कुछ असर पड़ा। अफगान, पठान, मुगल, सूफी—सब अपनी तरफ से थोड़ा बहुत भारत को दे गये। ग्रीस, अरब और अन्य देशों से भारत के विद्वानों का आदान-प्रदान, राजनीतिक सम्बन्ध, व्यापारिक संपर्क आदि जीवन को प्रभावित कर सके। सब से बढ़कर ब्याह आदि पारिवारिक संबंध भी होता रहा। इन सब के कारण देश की क्षेत्रीय संस्कृतियों का संकर होता था। बाद में तथा साथ ही देशी-विदेशी संस्कृतियों का भी संकर होता था। 'संकर' शब्द में व्यंग्य और अपकर्ष की ध्वनि है। इसलिए संकर की जगह समन्वयन कहना बेहतर रहेगा। अरबी, फारसी, यहूदी, फिरंगी और अंत में अंग्रेज यहां रहकर भारतीय स्त्रियों से वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ते थे तो उनकी अनंतर पीढ़ियों में माता-पिता दोनों के पक्ष की संस्कृति का समन्वय होता था। देश के भीतर पंजाबी, मद्रासी, सिन्धी-गुजराती, कन्नड़-आंध्र, तमिल-मलयालम आदि विभिन्न भाषियों के दांपत्य से निकली अनन्तर पीढ़ियां भी संस्कृति-समन्वय पाती थीं।

संस्कृति-समन्वय जीवन के हर क्षेत्र में दृष्टिगत होता है—भोजन, वस्त्र, भवन, व्यवहार, आचार-विचार आदि आदि। युग के बढ़ते-बढ़ते प्रदेश व देश की संस्कृति की प्रभुता बढ़ती है और बाहरी संस्कृति क्षीण होती है। इसका प्रमाण हर क्षेत्र में मिलता है। तमिलनाडु के किसी टकसाली केन्द्र के निवासी तमिल ब्राह्मण और पीढ़ियों से केरल में बसे तमिल ब्राह्मण के

Created by Bhartesh Mishra

जीवन-क्रम की तुलना से यह स्पष्ट होता है।

यूरोप व भारत

हम सांस्कृतिक समन्वय और अनुवाद के संबंध पर विचार कर रहे हैं। इसलिए भाषाओं के समन्वयन पर विचार करेंगे। इस सिलसिले में प्रो. स्वपन मजूमदार के कुछ शब्द संगत हैं :—

''यूरोप में तुलनात्मक विश्लेषण की स्वीकृति केवल स्वैच्छिक या वैकल्पिक थी। भारत में तो वह अनिवार्य था, भारत राष्ट्र की बहु भाषिकता के कारण आवश्यक था। ग्रीको-रोमन संस्कृति व ईसाई धर्म यूरोप भर में सामान्य तत्व रहे। इसके बावजूद यूरोप के अंगभूत राष्ट्र अपनी-अपनी राजनीतिक अस्मिता से प्रतिबद्ध थे। प्रत्येक का स्वतंत्र इतिहास प्राय: दूसरों से प्रतियोगिता व निरंतर संघर्ष का रहा। वे आपस में सांस्कृतिक विनिमय मुश्किल से करते थे। किंतु भारत पर विदेशी सत्ता की लंबी अवधि अनजाने ही इस देश के भीतरी गठन में सांस्कृतिक समझौता करने का कारण बन गई। विदेशी शासकों ने तथा उनके देशी पिट्ठुओं ने देशवासियों के अंतरंग में जो हीनताग्रंथि जगाई उसने राष्ट्रीय कहलाने वाली हर बात को हमारे लिए प्रिय बना दिया।''

(कंपेरेटीव लिटरेचर : इंडियन डायमेंशन्स)

अभिव्यक्ति का माध्यम

भाषा मानव के विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। नर-नारी अपने अनुभव, विचार, प्रतिक्रिया - सब भाषा में लिख डालते हैं। जब एक पीढ़ी की लिखी बातें दूसरी, तीसरी पीढ़ी के लोग पढ़ते हैं तब उन बातों में कुछ इतिहास का हिस्सा बनते हैं, कुछ कथा का पद पाते हैं। जिस युग के लोगों की लिखी हुई चीजें हों उस युग की संस्कृति प्रतिबिंबित होती है। युग के अनुसार भाषाओं का समन्वय तथा विचारों का संकर होता जाता है। उदाहरणार्थ जब बंगला साहित्यकार डी एल राय ने चंद्रगुप्त नाटक लिखा तब उसमें ग्रीक संस्कृति के तत्व बंगला भाषा में भी आ गये। फारस के दास्तान जब भारतीय व विदेशी भाषाओं में पुनराख्यान किये गये तब उनमें फारसी संस्कृति के तत्व अपने आप आ गये। जब बाईबिल पर केन्द्रित घटनाएं और कहानियां संसार की बीसों भाषाओं में लिखी गई तब उन सब में ईसाई धर्म और यहूदियों के देश की अनेक बातें अनजाने आ जाती थीं।

आधुनिक युग में संसार के सभी देशों के परस्पर पास आने और घुलमिल जाने की प्रवृत्ति बढ़ती रही है। प्रत्येक भाषा के विद्वान शिक्षाशास्त्री स्कूली शिक्षा के स्तर पर छात्रों के ज्ञान का क्षितिज बढ़ाने अन्य देशों व संस्कृतियों की कितनी ही बातें प्रस्तुत करते हैं। इसके लिए वे मुख्यत: अनुवाद के विविध रूप स्वीकार करते हैं। प्रारंभिक स्तर पर अन्य भाषा की सामग्री स्वयं

पचाकर उसे अपनी भाषा में दुहराते हैं। इसे पुनराख्यान (री-टोल्ड) परंपरा कहा जाता है।

विषयों की कोटियां

जब विशेषज्ञ इस क्षेत्र में कदम रखते हैं तब विषय की कई कोटियां बनाई जाती हैं :— (1) विज्ञान (2) प्रौद्योगिकी (3) इतिहास और इतिहास से जुड़े अन्य पुरातत्वशास्त्र जैसे विषय (4) धर्म व मिथयकीय विषय (5) विधि (6) प्रशासन (7) सूचनाएँ आदि। बुनियादी तौर पर ये सब अभिधा प्रधान और सूचनापरक होते हैं। दूसरी तरफ अन्य मुख्य कोटि साहित्य की है जिसकी विविध विधाएँ हैं—कविता व गद्य मुख्य रूप हैं। इसमें प्रत्येक की अनेक उपशाखाएँ हैं। साहित्यिक सामग्री की एक सामान्य प्रवृत्ति यह होती है कि उसका उद्‌गम मानव-समाज, संस्कृति एवं सभ्यता से होता है। बिंब ही दर्पण में प्रतिबिम्बित होता है और वह बिंब संस्कृति आदि से मुक्त कभी नहीं होता। यों हर प्रकार के विषय में सांस्कृतिक समन्वयन होता है और अनुवाद उसका साधन या उपकरण बन जाता है। कुछ और उदाहरण प्रस्तुत हैं-अद्यतन विज्ञान की अनेक शाखाओं का गहरा ज्ञान, रूसी, फ्रेंच व जर्मन भाषाओं के ग्रंथों में है। अत: अंग्रेज वैज्ञानिक इन भाषाओं के ग्रंथों का अंग्रेजी में अनुवाद करते-कराते हैं। जिन अंग्रेजों को वेदों की संस्कृति समझने की इच्छा हुई उन्होंने संस्कृत के वेद-मंत्रों का अनुवाद अंग्रेजी में करा लिया। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो का सार विश्व के अनेक देशों के श्रमिक समझ सके। इसका उपाय उस ग्रंथ का विश्व के अनेक देशों की भाषाओं में अनुवाद था। अतएव सांस्कृतिक समन्वयन के लिए अनुवाद की उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

भाषाओं का समन्वयन

प्रत्येक भाषा की संपत्ति अनुवाद से बढ़ती है। उसका एक मुख्य पहलू सांस्कृतिक समन्वयन का है। प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक-तीनों युगों के कुछ उदाहरण लें। भारतीय भाषाओं में प्राचीनतम संस्कृत है। संस्कृत में महाभारत और रामायण अनुपम ग्रंथ हैं। कितने ही प्रकार से संसार की विविध भाषाओं में उनका रूपान्तरण व अनुवाद हो गया। मध्यकाल में विविध भारतीय भाषाओं के कई भक्ति-काव्य हुए जिनमें मराठी की ज्ञानेश्वरी, हिन्दी का रामचरितमानस, बंगला का कृत्तिवास रामायण, आदि प्रमुख हैं। तमिल में तो प्राचीन काल में नालायिरम दिव्य प्रबंध (वैष्णव) तिरुवाचकम (शैव) पंचमहाकाव्य, तिरुकुरल आदि अनेक प्रकार से रूपान्तरित हो सके। आधुनिक युग में अनुवाद-प्रक्रिया के दो तीन नये आयाम और जुड़े-अंग्रेजी से भारतीय भाषा में अनुवाद एवं भारतीय भाषाओं से अंग्रेजी में अनुवाद। इससे भी नया आयाम आधुनिक भारतीय भाषाओं की सामग्री का परस्पर अनुवाद है। इसी सिलसिले में रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रेमचंद, कारंत, भारतियार, तकषि आदि विभिन्न भारतीय भाषा-भाषियों की रचनाएं देश-विदेश की भाषाओं

Created by Bhartesh Mishra

में प्रचुर मात्रा में अनुदित व प्रचरित हो गई।

अनुवाद की प्रविधि

अब विचारणीय है कि अनुवाद के दौरान सांस्कृतिक समन्वयन किस प्रकार होता है। मुख्यत: हम अनुदित रचना में अन्य भाषा-भाषी समाज के जीवनक्रम, इतिहास, संस्कृति आदि बहुत सी बातें पढ़कर समझ जाते हैं। इन सब बातों के बोधक शब्द, पदबंध, मुहावरे आदि अनुवाद में भी किसी न किसी रूप में आते हैं। वे अब लक्ष्य भाषा के अंग हो जाते हैं। इस स्रोत से लक्ष्य भाषा की पद संपत्ति बढ़ जाती है। हिन्दी में आये फारसी व अरबी शब्द इसके नमूने हैं। आधुनिक भारतीय भाषाओं में प्रयुक्त अनेक तत्सम संस्कृत शब्द भी इसके उदाहरण हैं। अंग्रेजी में ग्रीक, लैटिन, फ्रैंच व जर्मन के हजारों शब्द प्रयुक्त होते हैं। ये भी संस्कृति से जुड़े हैं। जब ऐसे अनुवाद अत्यधिक प्रचार पाते हैं तब ऐसे शब्दों की संख्या भी एकदम बढ़ती है। भौगोलिक, राजनीतिक या पारंपरिक कारणों से जिन भाषाओं में घनिष्टता होती है उनमें सांस्कृतिक समन्वयन और शब्दों का आदान-प्रदान अधिक सुगम रहता है। उदाहरणार्थ यूरोपीय भाषाएं परस्पर घनिष्ठ हैं, अरब और इससे मिले जुले देश परस्पर घनिष्ठ रहते हैं, संस्कृत और भारतीय आर्य भाषाएं एक दूसरे से घनिष्ठ हैं। घनिष्ठ भाषाएं एक दूसरी के सांस्कृतिक शब्दों से परिचित होने से परस्पर शीघ्र ही आत्मसात करती हैं। परस्पर मिलन के दौरान कुछ-कुछ रूप परिवर्तन संभव है। भाषा विज्ञान में ध्वनि परिवर्तन के जो प्रमुख कारण होते हैं वे यहां लागू हो सकते हैं।

जब सांस्कृतिक समन्वयन और अनुवाद का निकट संबन्ध जाहिर हो चुका तब प्रश्न उठ सकता है कि फिर समस्या क्या है? अनुवाद-विज्ञान के विशेषज्ञों के अनुसार अनुवाद के द्वारा सांस्कृतिक समन्वयन में कई कठिनाइयाँ या बाधाएँ हैं। एक संक्षिप्त आलेख में इनका सांगोपांग विवेचन संभव नहीं है। केवल दिग्दर्शन का प्रयत्न करेंगे।

प्रो. स्वपन मजूमदार के शब्दों के अनुसार यूरोप का हर राष्ट्र अपनी-अपनी असिमता पर दृढ़ रहता था। उसकी परंपराएँ व रूढ़ियाँ होती थी। उनके बोधक शब्द व पद-बंध उसी भाषा में सहज थे। उनका अर्थ केवल अभिधार्थ या कोशगत अर्थ तक सीमित नहीं रहता था। ऐसे प्रसंग हर मूलभाषा के पदों की व्याख्या करना या मूल भाषा के पदों का ही प्रयोग लक्ष्य भाषा में करना युक्तिसहज रहता था। कोष्ठक या पादटिप्पणी में व्याख्या देना भी एक तरीका था। यही सब से उत्तम प्रविधि है।

एकता में भी भिन्नता

इस एकता में बाधक बनी भिन्नता भी विचारणीय है। हिन्दी में एक सूक्ति प्रसिद्ध है—"कोस कोस में पानी बदले, चार कोस में बानी"। भारत एक राष्ट्र के रूप में एक है। तथापि इसके भौगोलिक नक्शों पर ध्यान दें तो पता लगेगा कि यहाँ छोटे-छोटे अनेक भूभाग हैं जिन्हें नदियाँ,

सागरताल, पहाड़ियाँ आदि अलगाते रहे। आदमियों ने सभ्यता के विकास के दौरान पुल-पुलिया, सड़क-गली, यातायात और संचार के साधन आदि उपलब्ध करायें। यों छोटे-छोटे राज्य/भूभाग मिलकर बड़े हो गये। कई राज्य-लोभी नरेश भी पड़ोसी राज्यों पर अपना झंडा फहराते रहे। इस विकास या परिवर्तन के दौरान भी राज्य में प्रचलित परंपरागत शब्द चलते रहे। आगे विकास के कारण परंपरागत शब्दों का प्रचार धीरे-धीरे कम होता गया। फिर भी वे पूर्णतः नष्ट नहीं हुए। इसके अलावा अनेक परंपरागत रूढ़ि-रीति, रिवाज धर्मानुष्ठान, वस्त्र, खाद्य आदि बने रहे। ये पड़ोसी भाषाओं के लिए कम परिचित रहे और अनुवाद से पूरा अर्थ ध्वनित नहीं होता था। ऐसे शब्द अनुवाद-प्रक्रिया में "अननुवाद्य" की कोटि में रखने लायक हैं। उदाहरण—हिन्दी-होली, घरजमाई, द्वारपूजा, तिलक, डायन, मुँहदिखाई, छुईमुई, सोहर, धान, बीनना, पसर जाना।

मलयालम – ओणक्काष्च, कारणवर, मुरपेण्णु, पुल्लुंनान, कावँ वेला, कवणि, तेच्चुकुलि,

II

इनका हिन्दी में अर्थ – ओणक्काष्च – ओणम की भेंट (किसान अपने भूस्वामी को भेंट चढ़ाते थे)

कारणवर – घर के बुजुर्ग – (मातृसत्ता के दिनों में बड़े मामा घर के सर्वेसर्वा थे)

मुरप्पेण्णु – जो कन्या परंपरागत क्रमानुसार अपनी पत्नी होने योग्य है – (मामा की बेटी, फूफी की बेटी आदि)

पुल्लुंनान – निकम्मा (थुलथुले शरीर का, कमजोर)

कावँ – देहात का ग्राम देवता का मंदिर

वेला – मेला (मंदिर का)

कवणि – खास तरह का उत्तरीय

नेच्चुकुलि – तेल या उवटन लगाने के बाद का स्नान

प्रसंगाधानित शब्द

जब अन्य भाषाओं के शब्द हमारी भाषा में घुलमिल जाते हैं तब प्रायः किसी खास प्रसंग पर ही ऐसा होता है। उदाहरणार्थ- मुल्ला, किस्मत, जकात, मुसीबत, दुनिया, हराम, निवीस, पुकार, हूरि, सुलतान – ये शब्द मलयालम में आ गये हैं। ये मूलतः इस्लाम-बिरादरी के लोग अपनी दैनिक बातचीत में बोला करते हैं। मलयालम में इनका प्रयोग हिन्दू समाज के पारिवारिक वार्तालाप में नहीं हो सकता। इसी तरह जल, तीर्थ, पानी-तीनों एक ही अर्थ के बोधक

Created by Bhartesh Mishra

हैं पर प्रसंग के अनुसार चुनकर काम में लाये जाते हैं।

दो और शब्द : युद्ध - कुश्ती, झड़प, झगड़ा, मारपीट, लड़ाई,

प्रेम - प्यार, वात्सल्य, इश्क, मुहब्बत।

ऐसे शब्द कालांतर में सामान्य हो जाते हैं। फिर भी बेहतर यह है कि उनका मंतव्य समझकर प्रयोग करें।

हम प्राय: नागरिक और साहित्यिक भाषा से ही परिचित रहते हैं। हिन्दीतर भाषी जो हिन्दी पुस्तकों में सीखते हैं वह खड़ीबोली है या राजभाषा। हिन्दी की विभिन्न बोलियाँ और उर्दू सांस्कृतिक शब्दों के अक्षय भंडार हैं। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है और देहात से परिचय है वे ऐसे शब्द जानते हैं। उनकी सलाह लेकर अनुवाद करना उत्तम है। फिर भी नये शब्दों के लिए पाद टिप्पणी में या ग्रंथ के अंत में एक छोटा व्याख्या-संग्रह देना वांछनीय है।

जब एक भिन्न भाषा की रचना का अनुवाद हम करते हैं तब बहुधा मातृभाषा से अन्य भाषा में भी यह प्रक्रिया चलती है। मातृभाषा हमारे अवचेतन मन में बसी हुई हैं। इसलिए उसका गठन अनजाने अनुवाद के दौरान लक्ष्य भाषा में आ जाता है। अनुवादक भी यह पहचान नहीं पाता, जो शुद्ध रूप से लक्ष्यभाषा-भाषी हैं वे यह भूल फौरन पकड़ लेते हैं। इसी प्रकार अन्य भाषा में कुछ प्रयोग बड़े सहज, युक्तिसंगत व सीधे होते हैं। इस भाषा के ऐसे प्रयोगों का अनुवाद करते वक्त अनजाने लक्ष्य भाषा का मुहावरा टूट जाता है। कभी-कभी अनुवादक ऐसा प्रयोग कर डालता है। यदि लेखक प्रसिद्ध हो और रचना सशक्त तो कालांतर में उसे साधुता मिलेगी। अब भी अनेक आंचलिक प्रयोगों को साधुता दी जाती है। किंतु जहाँ तक हो भाषा का मुहावरा बिगाड़े बिना लिखना चाहिए।

सांस्कृतिक समन्वयन का अनुवाद पर स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। आप इसकी परीक्षा कर सकते हैं। जैसे (1) अंग्रेजी (2) अन्य आर्यभाषा (3) द्रविड़ भाषा (4) अरबी - यों चार भाषाओं से अनुदित एक-एक लंबी हिंदी कहानी की भाषा, वाक्यगठन आदि की तुलना करके देखें। तब पता लगेगा कि चार धाराएं कुछ-कुछ दिखाई देती हैं। जब बड़ी मात्रा में अनुवाद होगा तब लोग विभिन्न शैलियों से परिचित होंगे और सबको स्वीकार करेंगे। भाषा का विकास भी हो जायेगा।

डोगरी लोकगीतों की दुनिया

पद्मा सचदेव

दुनिया बनने पर जब पहली बार बच्चे ने धरती पर आंख खोली होगी तब मुंह खोलने पर जो स्वर निकला होगा वो अं अं ही रहा होगा। बच्चे को चुप कराने के लिये मां ने भी कुछ वैसा ही शब्द थोड़ा लंबा करके निकाला होगा। बाहों में भरकर कलेजे से लगाते ही बच्चा चुप कर गया होगा और अं अं को जो शब्द मिले होंगे वो यकीनन ही लोरी रही होगी। लोकगीतों की पहली विधा मुझे इसमें कोई संदेह नहीं लगता। हमारे देश में पन्द्रह सोलह सौ भाषाएं बोलियां, उपबोलियां हैं उन सभी में कई तरह के लोकगीत हैं जो विलक्षण हैं। हर भाषा का लोकगीत कहीं न कहीं से दूसरी भाषा में भीगा हुआ है। इस लेख में मैं सिर्फ अपनी मातृभाषा डोगरी के लोकगीतों का ही जिक्र करना चाहूंगी।

डोगरी लोकगीतों के नाम से ही मुझे अपने गांव पुरमंडल की कोई गोबर लिपी कच्ची छत याद आ जाती है। पूरे गांव के आसमान पर पूरा चमकता चांद लोकगीत गाती औरतों को ताकता रहता है। कानों पर हाथ रखकर गाती औरतों का सुर चांद को छू लेता है। हमारे ही लोकगीतों में ''चन्न'' याने चांद प्रमुख है। पहली पंक्ति तकरीबन काफिऐ के लिये होती है कविता का मर्म दूसरी पंक्ति में रहता है। एक नमूना देखिए।

चन्न म्हाड़ा चढ़ेया ते उप्पर रेछासिया
थोड़ा थोड़ा मन्दा चन्ना मतियां दोआसियां
मिलना जरूर मेरी जान हो —

मेरा चांद रियासी के आसमान पर चढ़ा है याद तो कम-कम है पर उदासी बहुत ज्यादा है।

अपने मन की बात कहने का ये कितना सुंदर तरीका था। पुरुष तो किसी भी युग में अपने मन की बात डंके की चोट पर कहता रहा परन्तु स्त्री जो अपनी बात नहीं कह सकती थी

Created by Bhartesh Mishra

वो उसने लोकगीतों में कही, इसलिये मैं हमेशा ये समझती हूँ कि लोकगीत ज्यादातर स्त्री ने ही लिखे होंगे।

मैं उन खुशनसीब स्त्रियों में से हूं जिन्होंने लोकगीत गाए भी हैं और उनमें योगदान भी दिया है। बचपन में नवरात्रों में लोकगीत गाते-गाते कितनी बार मैंने उनमें छंद भी जोड़ दिए हैं। लोकगीत लोकजीवन का प्रतिबिम्ब हैं। ये उतने ही पुराने हैं जितना पुराना मनुष्य या उसका समाज। लोकगीतों में हमारा पूरा इतिहास, संस्कृति, संस्कार व दुख-सुख दिखाई देते है। जो बातें बहू, ननद या सास के खिलाफ नहीं कह सकती थी वो उसने लोकगीतों में कही। सास के खिलाफ अभियोगों वाले गीत सुनकर किसी भी बुढ़िया का पोपला मुंह मुस्कुराहट से भर उठता है। तब वो सास होते हुये भी सास नहीं रहती बहू हो जाती है।

डोगरी में बहुत से लोकगीत सिपाहियों के बारे में हैं। साल में एक महीना ही सिपाही छुट्टी पर आते थे। ग्यारह महीने बहुओं को सासों के कठोर शासन में ही बिताने पड़ते थे। इन विषयों पर डोगरी में हजारों लोकगीत हैं। वैसे डोगरी के लोकगीत भी जीवन के हर पहलू से संबंधित है।

डोगरी लोकगीतों में मुख्यतः लंबी कविता बौरां कारका और छोटी कविता-गीत भजन, सुहाग, छोड़िया, सोहर आदि हैं। वीर पुरुषों की वीरता से संबंधित गीतों को "बारां" कहते है। ऐसे गीतों को उत्साह तथा स्फूर्ति दिलाने वाले ढंग में लोगों के सामने गाया जाता है। गाने वालों को गारढ़ी कहते हैं। क्योंकि ये वीरता और बहादुरी के बारे में गीत हैं इसलिए जन साधारण पर इनका प्रभाव कारकां की अपेक्षा अधिक है। "कारकां" देवी देवताओं अथवा कीर्तिमय व्यक्तियों के बारे में गाये जाने वाले स्तुति के गीत हैं। बार और कारक इंतनी लम्बी कविता होती है कि उन्हें छोटे महाकाव्य कहा जा सकता है यद्यपि उनकी शैली काव्य से भिन्न होती है। मियां डीडो, वजीर, रत्नू, गुग्मा, रामसिंह, रूप बसन्ता, बारां डुग्गर में काफी प्रसिद्ध हैं। और बाबा जित्तो, दातारनू, रनपतढ़ तथा "राज बहुरूल" प्रसिद्ध कारकां है।

डोगरी लोकगीतों में सबसे पहिले "चन्न" ही मेरे मन में चढ़ा। एक और बानगी प्रस्तुत है।

चन्न म्हाड़ा चढ़ेया ते बैरिया दे ओहलै
बैर पटाओ म्हाड़ा चन्न मुहां बोले
मिलना जरूर मेरी जान हो।

मेरा चांद बेरी की ओट में चढा है। बेर का वृक्ष कटवा दो ताकि मेरा चांद मुंह से बोल सके।

चांद का ये टुकड़ा "दिनकर" जी को बहुत पसन्द था। उन्होंने मुझसे डोगरी गीत और लोकगीत सुनकर मेरी डोगरी कविता की पहली पुस्तक की भूमिका में लिखा था।

डोगरी के गीत कितने विलक्षण होते हैं ये देखकर आज मैं दंग हूँ। डोगरी की सहज कवियित्री सद्मा सचदेव का मैं बड़ा ही उपकार मानता हूँ जिन्होंने मेरे घर आकर मुझे उस आध्यात्मिक संपत्ति का ज्ञान कराया जो डोगरी भाषा में बिखरी पड़ी है। डोगरी धन्य है। न जाने इस भाषा के भीतर कैसे-कैसे रत्न छिपे हुये हैं। डोगरी के लोकगीतों के अनुवाद हिन्दी में अवश्य आने चाहिये और हिन्दी को उन सभी कवियों और लेखकों से परिचित कराना चाहिये जो इस पहाड़ जैसी खूबसूरत भाषा में लिख रहे हैं।

मैं आपको बताना चाहती हूँ मैंने डोगरी के लोकगीतों के समुद्र से अंजुरि भी लोकगीतों का हिन्दी में अनुवाद किया है इसे साहित्य अकादमी ने छापा है। मेरा मन है कि साहित्य अकादमी द्वारा मान्यताप्राप्त सभी बाईस भाषाओं के लोकगीतों का अनुवाद आना चाहिये। इसी से हम उस भाषा की आत्मा में झांक सकेंगे। डोगरी लोकगीतों की पुस्तक का नाम है, डोगरी लोकगीत संसार और उसमें डोगरी का पहिला लोकगीत यूं है।

Created by Bhartesh Mishra

'अनुवाद— नहीं मिटे तकदीर
चाहे लाख जत्न करो
हम छोड़े न कश्मीर
चाहे लाख जत्न करो
युद्ध में लड़ते वीर
चाहे लाख जत्न करो
सीने पर लगते तीर
चाहे लाख जत्न करो
लांघ जाऐंगे पी
चाहे लाख जत्न करो
काट के रख देंगे सीस
चाहे लाख जत्न करो

अब देखिए कश्मीर की समस्या तब भी थी जब सीने पर तीर लगते थे, आज क्लशनकोफ के वक्त भी वही समस्या मुंह बाएं खड़ी है। डोगरा जवानों ने अपने सीने पर जख्म खाए हैं तभी तो डोगरा रैजिमैंन्ट्स का नाम पूरे विश्व में है।

यही असमानता देखते हुये
नाम कटवा कर घर आ जाओ।

नाम कटवा कर घर आने के लिये लोकगीतों में कितने ही कारण गिनाए गये हैं।

बूढ़ी माँ को भी नहीं बख्शती सिपाही की पत्नी सोचती है सास पैसों की लोभिन है इसीलिए मेरे पति को नौकरी पर भेज दिया।

बहू— धन्य कलेजा है सासु जी
बेटे को परदेस भेज दिया
सास— कलेजा खोल कर कैसे दिखाऊं
पैसों के लोभ में, भेज दिया

एक और लोकगीत में बहू सास से अपने पति का पता ठिकाना इस तरह पूछती है

बहू आम को पेड़ लगाया मैने
दूध कटोरे भर भर पाला
पूछती हूँ मैं सासू मां से
बेटे को मुहिम पर भेजा कहां
सास— आओ बहू संभालो चौका
बेटा मेरा कश्मीर गया
बहू— आग लगे तेरे चौके को सासू मां
कन्त बिना दिल डोल रहा

बहू मां बनने वाली हुई तो सास प्रफुल्लित होकर गाती है।

गोरी के अंगन फूल खिला है
खिला है असली गुलाब
गोदी, हरी हुई

जम्मू के पास सांबा शहर है। वहां के पेखे छींट और कड़ियां प्रसिद्ध हैं।

राजाओं के समय में अपनी अपनी रियासत के राजाओं को प्रजा खूब प्यार करती थी। आज भी नेपाल में राजा के न रहने पर कैसे प्रजा बिलख रही है। हमारे महाराजा हरि सिंह को लोग बहुत प्यार करते थे। एक लोकगीत में ये प्यार यूं उमड़ा है।

जुग जुग जियो मेरे जम्मू के राजा
मेरी उम्र लगे तुमको
मेरे जम्मू के राजा

गांव के गंवई लोग महाराज की एक झलक पाने के लिये पूरा पूरा दिन सड़क पर पलक पावड़े बिछाए रखते थे। महाराजा हरि सिंह की स्तुति में एक और लोकगीत देखिए।

मेरी मां, हरि सिंह जैसा बेटा पैदा कर
गोरे थर थर कांपे हो लोगो।
तोपें गरज रही हैं जाकर,
जम्मू शहर के बीच ओ लोगो
दुश्मन के दांत तोड़े ओ लोगो
ढोली बजाओ ढोल दनादन

सिपाहियों की चिट्ठी का इंतजार करते करते पत्नियां समय निकालती तो ये लोकगीत बनता होगा।

Created by Bhartesh Mishra

कश्मीर जाते सिपाही लिखते हैं चिट्ठियां

कुछ लिखें सच्चियां कुछ लिखें झूंठिया

कितनी बार चिट्ठी पढ़वा कर सुनने पर भी विश्वास नहीं होता सिपाही के आने का विश्वास तभी हो जब वा वर्दी पहिने आंगन में आ खड़ा हो।

कितने गीतों में ये मनुहार है। नौकरी छोड़ कर घर आ जाओ। एक लोकगीत में कैसी मार्मिक बात कही है।

कच्ची बैरकों में हमारे सिपाही रहते हैं

पक्की इमारतों में ओहदेदार रहते हैं।

एक लोक गीत में उनका वर्णन इस प्रकार है:—

साबा शहर में बनती कड़ियां

छेले आकर ज़िद करते हैं

पंखा फेरते हो घुमाते हो

झुलाते हो ले दोगे क्या?

लोकगीतों में भजन भी असंख्य हैं मुंह अंधेरे चक्की पीसती औरतें उसकी लय पर धीरे-धीरे गाती हैं।

तुझे क्या क्या भेंट चड़ाऊं

मेरे भगवान जी

दूध पिलाऊं तो बछड़ों का जूठा

फूल चढ़ाऊं तो भौरों का जूठा

तन चढ़ाऊं तो कंत का जूठा

तुझे क्या क्या भेंट चढ़ाऊं

मेरे भगवान जी।

सुहागों में जैसे बेटी अपने मन की बात बाबुल से कहती है। उस वक्त लड़कियां खूंटे की गइया ही होती थीं। अगर कोई अच्छा भी लगता था तो भी मुंह खोल कर ये कहना मुमकिन न था। पर सुहागों में बड़ी आसानी से कहा जा सकता था।

रेतीले देश में न देना बाबुल

रेतीले देश में दीवारें काली हैं

रंगीन घुंघरूओं वाली हैं

रोते रोते नैन रह गये

पानी भर भर केश झर गये

टांगे ठक्की चढ़ते रह गईं

बांहें चक्की वीसते थक गईं।

लोकगीतों में सबसे मुखर रंग प्रेम का ही है। सिर्फ देखादेखी में हुआ प्रेम और भी घना होता है। जिन्दगी में फिर कभी वो प्रेमी दिख जाएं तो इस तरह का गीत बनता होगा।

शाम की बेला

सुबह की ओस

गंगा की छाली

कुंभ का मेला

तेरा मेरा साजन

संयोग से मेला

उस्ताद अल्ला रक्खा खां भी जम्मू के एक गांव के थे। जब भी हमारे घर में आते तो डोगरी का ये लोकगीत जरूर गाते।

राजी रहो मेरी ब्राह्मणी री सखी

युग जीने वालों के मेले हैं री

राजी रहो ....

ऊपर पहाड़ी पर सेमल जो सूखा

धरती पर सूखा ठंडा पानी

गोरी नारियों के मुख जो सूखे

ये क्या हुआ हमारे साथ री सखी

Created by Bhartesh Mishra

राजी रहो मेरी ब्राह्मणी

जो लोग भी अपनी मातृभाषा को प्यार करते हैं वो जहां भी रहते हैं वहीं अपनी भाषा का दिया जलाकर, उसकी रोशनी में अपनी मातृभाषा की यादें जिला लेते हैं। इतने लोकगीतों में से कुछ बानगियां मैंने प्रस्तुत की हैं। पूरे लोकगीत तो कई पुस्तकों में भी पूरे नहीं समाते लिहाजा गालिब का शेर उधार लेती हूँ।

बरक तमाम हुआ और मदह बाकी है

सफीना चाहिये इस बहरे बेकरां के लिये

(डोगरी लोकगीतों का अनुवाद लेखिका पदमा सचदेव ने किया है।)

मुगल सम्राट शाहजहां का राज सिंहासन— 'तख्ते ताऊस'

डॉ० परमानन्द पांचाल

1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् विशाल मुगल सम्राज्य का पतन आरंभ हो गया। उसके बाद कोई भी ऐसा शासक दिल्ली की गद्दी पर नहीं बैठा जो साम्राज्य को छिन्न-भिन्न होने से बचा सकता और उसके वैभव की रक्षा कर सकता। आंतरिक कलह और फूट से ग्रस्त, इस ह्रासोन्मुख साम्राज्य को 1739 ई. में नादिरशाह जैसे क्रूर और आतातायी आक्रमणकारी के हाथों विनाश का मुँह देखना पड़ा। उसके एक हुक्म से दिल्ली में जो कत्लेआम हुआ उसे सुनकर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। दिल्ली के लाखों निरीह, निरपराध नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया गया। नादिरशाह ने 22 मार्च, 1730 को चांदनी चौक की सुनहरी मस्जिद में बैठकर तलवार म्यान से बाहर निकाली और हुक्म दिया जब तक मैं तलवार म्यान में न रखूं दिल्ली के एक-एक नागरिक को मौत के घाट उतार दिया जाए। फिर क्या था? उसके सैनिक दिल्ली वालों पर बाज की तरह टूट पड़े। स्त्री, पुरुष, बुढ़े-बच्चों, पशु-पक्षी, जो भी मिला कत्ल कर दिया गया। हर घर से खून की धारा बह निकली। चांदनी चौक, दरीबा कलां, जामा मस्जिद का आस-पड़ोस सभी आग में जल उठे। 9 घंटे तक हत्याकांड चलता रहा। यह एक लंबी कहानी है कि किस प्रकार यह रक्तपात बंद हो पाया और नादिरशाह को यहां से विदा किया गया। किंतु कहते हैं कि दिल्ली के पूरे एक लाख नागरिक इस हत्याकांड के शिकार हुए थे।

इस दिल दहलाने वाले नर-संहार के साथ-साथ ही नादिरशाह ने शाही खजाने को भी खाली कर दिया और तत्कालीन दिल्ली सम्राट मुहम्मद शाह रंगीला असहाय होकर सब कुछ देखता रहा। बादशाह से नादिरशाह ने लाखों रुपये तथा प्राय: साढ़े तीन सौ वर्षों से संग्रहीत शाही खजाने के जवाहरात लिए और इनसे भी बढ़कर मुगल साम्राज्य का वैभव ''कोहनूर हीरा'' और शाहजहां का बहुमूल्य सिंहासन ''तख्ते-ताऊस'' भी उसके हाथ लगा।

Created by Bhartesh Mishra

''कोहेनूर'' की भांति ही तख्ते ताऊस भी शाहजहां की प्रसिद्ध निधियों में था। कोहेनूर तो कट छंट कर आज भी इंगलैंड की महारानी के ताज की शोभा बढ़ा रहा है, किंतु अभागे ''तख्ते ताऊस'' का कहीं भी नामो निशान नहीं रहा। आइये एक बार फिर, इसके स्वरूप पर विचार करें।

मुगल बादशाहों में शाहजहां जैसा रत्नों का पारखी और प्रेमी कोई दूसरा नहीं हुआ। प्रतिदिन उसके दरबार में देश-विदेश के जौहरी बहुमूल्य हीरे, माणिक, पन्ने, पुखराज आदि कीमती पत्थरों को लेकर उपस्थित हुआ करते थे। वह उन्हें आँखों से देखकर ही उनका मूल्यांकन करते तथा पसंद की चीजों को खरीदा करते थे। स्वभावत: बादशाह का रत्न-भंडार संसार के तत्कालीन सभी रत्न भंडारों से सवाया था।

1628 ई. में औपचारिक रूप से सिंहासनारूढ़ होने के तुरंत बाद शाहजहां ने निश्चय किया कि वह एक ऐसे राज-सिंहासन का निर्माण कराकर अपने आपको गौरवान्वित करेगा, जो अन्य किसी भी बादशाह के सिंहासन से कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं मूल्यवान हो। अप्राप्य रत्नों को भारी मात्रा में खरीदा गया और इस प्रकार राजकीय रत्नागार में भारी वृद्धि की गई। इस समस्त संचित भंडार को श्रेष्ठ 'तख्ते ताऊस' को अलंकृत करने में लगा दिया गया। यूरोप के दो प्रसिद्ध कारीगर आस्टिन, जो बोरडो का रहने वाला था तथा जेरेनिमों बेरोनियों, संयोगवश उन दिनों मुगल दरबार में ही थे। उनके देख-रेख में इसकी रूप रेखा तैयार की गई थी और बेबदल के निर्देशन में 7 वर्ष के सतत परिश्रम के बाद 1634 ई. में यह सिंहासन बनकर तैयार हुआ।

तख्ते ताऊस का आकार-प्रकार

ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इंडिया के पृष्ठ 377 पर लिखा है कि इसका निर्माण बेबदल खाँ के निरीक्षण में 7 वर्षों (1628-35) में पूर्ण हुआ। यह सिंहासन एक पलंग के प्रकार का था, जिसके पाए सोने के बने थे। इसकी चित्रित छत, पन्ने के बने बारह स्तम्भों पर टिकी हुई थी और प्रत्येक स्तम्भ पर दो-दो मोर थे जिनके उपर रत्न जुड़े हुए थे। प्रत्येक जोड़ के पक्षियों के बीच में एक वृक्ष था जो हीरों, पन्नों और माणिक तथा मोतियों से सुसज्जित था। यह अलंकृत सिंहासन जिसकी लागत कम से कम एक करोड़ रुपये अर्थात् उस समय के साढ़े बारह लाख पौंड के बराबर होगी। 1739 तक लाल किले में उस समय तक शोभायमान रहा जब तक कि नादिरशाह उसे उठाकर ईरान नहीं ले गया।

भूतपूर्व संसद सदस्य श्री आर. पी. नारायण सिंह के शब्दों में 'यह देखने में चारपाई के किस्म का, छह फुट लंबा, सोने के चार खम्बों पर स्थित था। तख्त का पिछला हिस्सा हू-बहू मोर की पूंछ के रंग और आकार-प्रकार का था, जिसमें उच्च श्रेणी के हीरे, माणिक और नीलम लगे हुए थे। छत के छोटे-छोटे आधार-स्तम्भ सोने के बने हुए और पन्ने तथा मोतियों से आच्छादित थे।'

17वीं सदी में जीन थेवनो नाम का एक फ्रांसीसी यात्री भारत आया था। उसने लिखा है—''कहते हैं इसमें 20 करोड़ का तो सोना ही लगा है। पर कौन इसकी कीमत आंक सकता है ? इसका मूल्यांकन तो इसके उन बहुमूल्य पत्थरों की कीमत जानने पर ही किया जा सकता है जिनसे यह लदा हुआ है।''

शरलॉक होम्स के रचयिता सर आर्थर कॉनन डायल ने अपनी आत्मकथा में लिखा था।

''दिल्ली में मुगलों के महल में रखा मयूर के रूप में निर्मित यह अद्‌भुत सिंहासन पूरी तरह सोने का बना था और भांति-भांति के हीरों-रत्नों आदि से जड़ा था। वह स्वर्णयुक्त पांवों वाले ऐसे छोटे पलंग जैसा दिखाई देता था, जिसके पतले स्तम्भों पर हीरे, पन्ने तथा रत्न बड़े कलात्मक ढंग से जड़े गए थे। सिंहासन के पृष्ठ भाग में दो मयूर प्रतिष्ठित थे, जिनके शरीर तथा फैले पंखों पर भी भांति-भांति के दमकते-चमकते रत्न, हीरे और पन्ने आदि शोभायमान थे।''

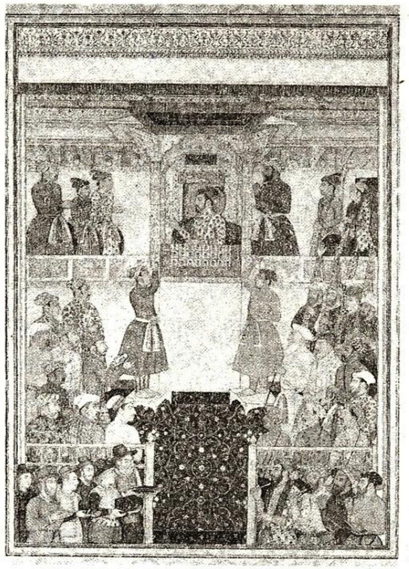

इसी प्रकार अन्यान्य विदेशी यात्रियों ने इसके संबंध में लिखा है और इसकी कीमत के संबंध में तरह-तरह की अटकलबाजियां लगाई हैं, किन्तु प्रसिद्ध यात्री ट्रेवर्नियर ने जो इसका आंखों देखा विवरण प्रस्तुत किया है वह अधिक प्रामाणिक है। उनके शब्दों में :—

''मुख्य सिंहासन जो पहले दरबार के मुख्य भाग में स्थित है वह हमारे शिविर की चारपाइयों से आकार और प्रकार में मिलता-जुलता है, अर्थात् यह लगभग 6 फुट लंबा और 4 फुट चौड़ा है। चारों पायों के ऊपर 4 सलाखें लगी हुई हैं जो 20 से लेकर 25 इंच तक ऊंची हैं। ये सिंहासन के आधार को सहारा दिये हुए हैं। इन सलाखों के ऊपर बारह स्तम्भ हैं जो इसकी छतरी को तीन ओर से संभाले हुए हैं। पायों और सलाखों, दोनों ही के ऊपर जो 18 इंच से बड़े हैं, सोने के पत्र चढ़े हुए हैं और उन पर अनेक हीरे, माणिक और पन्ने जड़े हुए हैं।''

Created by Bhartesh Mishra

''मैंने इस सिंहासन के बड़े-बड़े माणिकों को गिना है, वे 108 के लगभग हैं। इनमें सबसे छोटे का भार 100 कैरेट है, किंतु कुछ ऐसे भी हैं, जो 200 कैरेट या उससे बड़े दिखाई देते हैं।''

''छतरी का अन्दर का भाग हीरों और मोतियों से ढका हुआ है, जिसके चारों ओर मोतियों की झालर लगी हुई है। छतरी के ऊपर, जो एक चौकोर गुम्बद की शक्ल की है, एक मोर स्थित है जिसकी पूंछ ऊपर को उठी हुई है। पूंछ नील मणि तथा अन्य रंगों के पत्थरों से बनी है। मोर का शरीर सोने का है जिसमें बहुमूल्य पत्थर लगे हुए हैं। उसकी छाती के सामने एक बड़ा माणिक लगा है जिसके ऊपर भाले के आकार का एक लगभग 50 कैरेट भार का मोती है, जो कुछ-कुछ पीले जल जैसा है।''

ट्रेवर्नियर जो 1640 में भारत आया था, उसका कथन है कि तैमूरलंग के समय से संगृहीत धन से प्रारंभ और शाहजहां द्वारा पूर्ण इस सिंहासन का मूल्य 1,07,000 लाख है।

इस भव्य सिंहासन के पीछे एक छोटा सिंहासन है, जो स्नान कुंड के आकार का है। यह अंडकार है जिसकी लंबाई 7 फुट और चौड़ाई 5 फुट है। इसके बाहर हीरे मोती जड़े हुए हैं, किंतु इसकी छतरी नहीं है।

लार्ड कर्जन ने जिस तख्त को तेहरान में देखा था, उसके विषय में वह लिखता है कि यह तख्ते-ताऊस बिल्कुल भी भारतीय कृति नहीं है। इसका निर्माण इस्फहान के मुहम्मद हुसेन खाँ सदर ने फतह अली शाह (1793-1847) के लिए उस समय कराया था, जब शाह ने एक इस्फहानी युवती के साथ विवाह किया था,.........। नादिर शाह के मूल 'मयूर सिंहासन (अर्थात् दो प्रतिकृतियों के अवशेष) को आगा मुहम्मद शाह (1785-97) ने टूटी-फूटी और जीर्ण-शीर्ण अवस्था में प्राप्त किया था। उसने इसे विजेता के रूप में अन्य जवाहिरात के साथ प्राप्त किया था। इसके बाद इसके प्राप्त अंशों से आधुनिक रूप और प्रकार का एक अन्य सिंहासन बनाया गया जो आज तेहरान के महल में स्थित है।......... अत: इस कुर्सी पर महान मुगलों के मयूर सिंहासन के अवशेष विद्यमान हैं।'

नादिरशाह को यह इतना अधिक पसन्द था कि वह जहां कहीं भी जाता इसे साथ ले जाता था। इसके बाद यह तख्त आगा मुहम्मद शाह के हाथों पड़ा जिसने फारस की बादशाहत भी नादिरशाह के मरने पर हड़प ली थी।

1919 में यह एक अफवाह फैली थी कि मुगल सम्राटों का तख्त-ए-ताऊस कुस्तुनतुनिया में है और तुर्कों से खरीदकर इसे शायद दिल्ली लाया जायेगा। लार्ड कर्जन ने—'दि टाइम्स' में 10 सितंबर 1919 को लिखे गये अपने एक पत्र में उपर्युक्त तथ्य को दोहराया है। उसने कहा है कि

नादिरशाह की मृतयु से दो वर्ष पूर्व जब तुर्की ने ईरान पर आक्रमण किया तो उन्हें भारी पराजय का मुंह देखना पड़ा और यह विजयोपहार उनके हाथ में न आ सका।

कुछ लोगों का अनुमान है कि नादिरशाह के हाथों असली तख्ते-ताऊस नहीं लग सका था। जिस तख्त को नादिरशाह नहीं लूट सका उसे लूटने में बाद में अंग्रेजों ने सफलता प्राप्त की किंतु दुर्भाग्य से वह तख्ते ताऊस इंगलैंड तक भी नहीं पहुंच पाया और समुद्र में ही गायब हो गया। इस संबंध में एक बड़ी रोचक कथा प्रचलित है। 18वीं शताब्दी के अंतिम भाग में यह सिंहासन अंग्रेजों के हाथ लगा। मद्रास लाया गया और वहां से 'ग्रोस वेनर' नामक एक विशाल जलयान से जून, 1782 में इंगलैंड के लिए रवाना किया गया। उसके कप्तान के अनुसार उस पर 300,000 पौंड मूल्य के कीमती हीरे-जवाहरात, जिनमें विश्व विख्यात तख्ते-ताऊस भी शामिल था, इंगलैंड भेजे जा रहे थे। किंतु दुर्भाग्यवश जहाज पूर्वी अफ्रीका के आसपास एक घोर तुफान के चंगुल में जा फंसा और एक चट्टान से टकराकर ध्वस्त हो गया। कुछ कहते हैं कि जहाज जल समाधि को प्राप्त हुआ और साथ ही तख्ते-ताऊस भी। कुछ का मानना है कि जहाज से जो यात्री तट पर आ सके उन्हें वहां रहने वाले हब्सियों ने लूटा। सभी बहुमूल्य रत्न और हीरे तथा तख्त-ताऊस के जवाहरात भी उनके हाथ लगे और इस अपार धनराशि को उन्होंने एक गढे में दबा दिया। दक्षिण अफ्रिका के प्रसिद्ध इतिहास अन्वेषक जार्ज मैक्थील ने 1825 में यह अनुमान प्रस्तुत किया कि ''ग्रौस वेनर'' का खजाना उन्जीमुबु नदी से कुछ किलोमीटर उत्तर की ओर स्थित एक गड्ढे में छिपा है। किंतु यह क्षेत्र विषेले नागों का क्षेत्र था। इसलिए किसी ने वहां जाकर खोजने का प्रयास ही नहीं किया।

इसे खोज निकालने के अनेक बार प्रयत्न किए गए, किंतु कोई सफलता नहीं मिली। 1992 में यह तख्त फिर चर्चा का विषय बना और एक नई ग्रौस वेनर बुलियन सिंडीकेट की स्थापना की गई। उसने लंदन स्थित ''इंडिया हाउस'' को लिखे पत्र में कुछ रहस्यों की सूचना दी थी किंतु इंडिया हाउस ने कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। भूगर्भ वैज्ञानिक भी इस बात से सहमत हैं कि सागर के गर्भ में छिपी लुप्त संपदा को बाहर लाने के लिए सभी देशों को मिलकर एक अति विशाल और खर्चीली योजना बनानी होगी—जो शायद अभी संभव नहीं है।

इन चर्चाओं के बाद, फिर ये प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं कि क्या तेहरान के खजाने में रखा ''तख्ते ताऊस'' नकली है ? यदि वह नकली है तो असली ''तख्ते ताऊस'' क्या वही था जो ''ग्रैस वेनर'' जहाज द्वारा इंगलैंड ले जाया जा रहा था ? क्या वह समुद्र के गर्भ में समा गया है या दक्षिणी अफ्रीका के किसी कोने में अभी तक भी दबा पड़ा है ?

इस प्रश्नों का कभी उत्तर मिल भी सकेगा, संभावना क्षीण ही है।

Created by Bhartesh Mishra

छोटा नागपुर की संस्कृति और करम-पर्व

डा० श्रवणकुमार गोस्वामी

छोटानागपुर पहले बिहार का एक प्रमुख डिवीजन था, जिसका मुख्यालय राँची में था। तब इस डिवीजन में पांच जिले सम्मिलित थे—राँची, पलामू, हजारीबाग, सिंहभूम तथा मानभूम। राज्य पुनर्गठन आयोग की अनुशंसा के आधार पर मानभूम का विभाजन कर दिया गया और इसका वह भाग जो पश्चिम बंगाल से लगा हुआ था, उसे बंगलाभाषी मानकर पश्चिम बंगाल में मिला दिया गया। इस प्रकार मानभूम जिले का अस्तित्व समाप्त हो गया और उसके स्थान पर धनबाद जिले का गठन किया गया। धीरे-धीरे छोटानागपुर के सभी जिलों का भी विभाजन होता चला गया।

राँची जिले का विभाजन कर तीन नये-नये जिले बनाये गये—राँची, गुमला तथा लोहरदगा।

हजारीबाग का विभाजन कर उसे हजारीबाग, गिरिडीह तथा कोडरमा जिले का रूप दिया गया।

पलामू का विभाजन कर उसे पलामू, गढ़वा तथा चतरा जिले का रूप प्रदान किया गया।

धनबाद जिले को दो जिलों में बाँट दिया गया—धनबाद तथा बोकारो।

सिंहभूम का विभाजन पूर्वी तथा पश्चिमी सिंहभूम के रूप में किया गया। छोटानागपुर डिवीजन को भी दो भागों में बांट दिया गया—उत्तरी छोटानागपुर तथा दक्षिणी छोटानागपुर। दक्षिणी छोटानागपुर में पहले के पलामू, राँची तथा सिंहभूम जिले रखे गये और हजारीबाग तथा धनबाद उत्तरी छोटानागपुर के अधीन आ गये।

15 नवम्बर, 2000 को झारखंड नामक जिस नये राज्य का उदय हुआ, उसमें उत्तरी छोटानागपुर, दक्षिणी छोटानागपुर के सभी जिलों के अतिरिक्त बिहार के देवघर, दुमका, गोड्डा, पाकुड़ तथा साहेबगंज के नये जिले भी सम्मिलित हैं।

छोटानागपुर (उत्तरी तथा दक्षिणी) के निवासी दो प्रकार के हैं—आदिवासी तथा गैरआदिवासी। आदिवासी के अंतर्गत उराँव, मुण्डा, खड़िया, हो आदि प्रमुख जनजातियां हैं। यहां

के शेष निवासी गैरआदिवासी हैं। इनमें यहां के जो अत्यंत पुराने निवासी हैं, वे "सदान" कहे जाते हैं। हो जनजाति के अतिरिक्त उराँव, मुंडा तथा खड़िया जनजातियों के साथ यहां के सदान हजारों वर्षों से साथ रहते चले आ रहे हैं। इस सहजीवन के कारण आदिवासी समुदाय की संस्कृति ने सदान संस्कृति को भी प्रभावित किया है और सदान संस्कृति ने भी आदिवासी संस्कृति पर अपना पर्याप्त प्रभाव डाला है। यहां के सदान जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह सदानी, सदरी, सादरी, गाँवारी, नगपुरिया आदि कई नामों से जानी जाती हैं। अब इसका सर्वप्रचलित नाम नागपुरी है।

मुण्डा जनजाति की भाषा मुंडारी कहलाती है। उराँवों की भाषा कुड़ुख या उराँव है। इसी प्रकार खड़िया जनजाति की भाषा खड़िया है। इन तीनों जनतातियों के अतिरिक्त; (हो जनजाति को छोड़कर) यहां की जो गौण जनजातियां हैं, उनकी अपनी कोई भाषा नहीं है, अतः ये नागपुरी का प्रयोग प्रथम तथा द्वितीय भाषा के रूप में करते हैं। सदानों, मुंडाओं, उराँवों तथा खड़िया जनजाति के लोगों को जोड़ने वाली भाषा नागपुरी ही है। नागपुरी मूलतः एक आर्यभाषा है, पर इसने जनजातीय भाषाओं को पर्याप्त प्रभावित किया है। इसी तरह यह यहां की जनजातीय भाषाओं से खूब प्रभावित भी हुई है। यह दोनों समुदायों के लम्बे सहजीवन तथा अंतःक्रिया का ही परिणाम है।

सिंहभूम, जहां हो जाति का निवास है उसकी संस्कृति अलग है। उस पर न तो वहां के गैरआदिवासी समुदाय का प्रभाव नजर आता है और न हो समाज का ही कोई प्रभाव वहां के गैरआदिवासी समुदाय के जीवन में दिखायी पड़ता है। सिंहभूम जिले को छोड़कर शेष छोटानागपुर की जो संस्कृति है, वह स्पष्ट नजर आती है और यह छोटानागपुरी संस्कृति के नाम से जानी भी जाती है। इस संस्कृति ने धीरे-धीरे एक ऐसा रूप ग्रहण कर लिया है, जिस पर यहां के आदिवासी तथा गैरआदिवासी लोगों को समान रूप से गर्व है। यह दोनों की सांझी संस्कृति है और इसकी सर्वप्रमुख विशेषता है—सहअस्तित्व तथा नृत्य-संगीत के प्रति उद्दाम प्रेम एवं समर्पण। इस विशेषता ने यहां के निवासियों की जीवन-शैली पर जो अमिट छाप छोड़ी है, यह उसी का परिणाम है कि सामान्य रूप से ये दोनों समुदाय अभी भी झाड़-फूंक, ओझा, बलि, भूत-प्रेत पूजा, नशा आदि से अपने को पूर्णतः मुक्त नहीं कर सके हैं।

झारखंड के अस्तित्व में आने के बाद अब झारखंडी संस्कृति की बात भी की जाने लगी है। मगर अभी इसकी कोई स्पष्ट अवधारणा सामने नहीं आ सकी है। छोटानागपुर में बिहार के जिन लोगों (देवघर, दुमका, पाकुड़, गोड्डा तथा साहेबगंज) को मिलाकर झारखंड राज्य का गठन हुआ है, वहां की प्रमुख जनजाति हैं—संथाल। इनकी भाषा संथाली है। संथाल छोटानागपुर की कोई भी जनजातीय भाषा (कुड़ुख, मुण्डारी तथा खड़िया) नहीं जानते। वे यहां की सम्पर्क भाषा नागपुरी भी नहीं जानते। यही कारण है कि संथालों की संस्कृति छोटानागपुर की संस्कृति से मेल नहीं खाती। किसी भी संस्कृति के विकास में परस्पर अंतक्रिया की विशेष भूमिका हुआ करती है।

Created by Bhartesh Mishra

छोटानागपुर का एक विशेष पर्व है करम या करमा। यह पर्व मूलत: एक जनजातीय पर्व है, पर इसे यहां के आदिवासी तथा सदान हिन्दू समान आस्था, पवित्रता तथा श्रद्धा के साथ मनाते हैं। करम पर्व इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण है कि यहां के जनजातीय तथा सदान दोनों समुदायों ने कैसे एक दूसरे की आस्था तथा उपासना-पद्धति का केवल सम्मान ही नहीं किया है; बल्कि उन्हें आत्मसात कर सहअस्तित्व को प्रोत्साहित करने की दिशा में एक अनूठा एवं अनुकरणीय उदाहरण भी प्रस्तुत कर दिखाया है।

करम पर्व भाद्रपद शुक्ल एकादशी को मनाया जाता है। इस पर्व को युवतियां तथा महिलाएं अत्यंत श्रद्धा के साथ मनाती हैं। कहा जाता है कि करम व्रत करने से भाई का कल्याण होता है।

एकादशी की संध्या को उपवास किये हुए युवक करम पेड़ का एक भाग काट कर लाते हैं। इसमें से कुमारी लड़कियां तीन डालियां काटकर पूजा स्थल पर गाड़ देती हैं। इन डालियों को करम गोसाई कहते हैं। रात को पूजा के समय युवतियां तथा महिलाएं उसके चारों ओर थाली में प्रसाद लेकर बैठ जाती हैं। इस अवसर पर पाहन, पुरोहित या कोई जानकार व्यक्ति पूजा करवाता है। पूजा में जो कथा सुनायी जाती है, उसके अनेक रूप मिलते हैं। इन विविध रूपों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि करमा मूलत: एक जनजातीय पर्व है, किन्तु इस पर हिन्दू सदानों का जैसे-जैसे प्रभाव पड़ता चला गया, करम के अवसर पर कही जाने वाली कथा के रूप में भी

परिवर्तन होता चला गया। इस धारणा की पुष्टि नागपुरी तथा यहां की प्रमुख जनजातीय भाषाओं में प्रचलित अनेक गीतों से भी हो जाती है।

करम कथा के अनेक रूप इस प्रकार मिलते हैं :—

करम कहानी

यह कथा मुंडाओं के बीच प्रचलित है।

"इस दुनिया में पहले केवल समुद्र था। तब भगवान ने दो कबूतर बनाये और कबूतरों को यह देखने के लिए कि कहीं पेड़ है या नहीं, भेजा। कबूतर इधर-उधर बहुत उड़े लेकिन कहीं पेड़ नहीं दिखायी पड़ा। आखिर हार कर वे लौट गये और हु हु हु करते हुए भगवान के हाथ में जा बैठे। उन्होंने बताया कि कहीं भी पेड़ नहीं है, चारों ओर पानी ही पानी है।

तब भगवान ने अन्य जंतुओं से पूछा कि कौन गंगा की मिट्टी निकाल सकता है? मेंढ़क ने कहा कि मैं निकालूंगा। वह पानी के भीतर घुसा और मिट्टी निकालने लगा। लेकिन मिट्टी घुल कर छूट गयी। वह निराश होकर लौट आया। भगवान ने उसका कान ऐंठा जिससे उसका कान टूट गया। अभी तक मेंढ़क के कान नहीं होते हैं।

दूसरी बार केंकड़ा गया। उसने पानी में समाकर मिट्टी खोदी लेकिन वह गल गयी। भगवान ने नाराज होकर उसका सिर कुचल दिया, इसी से अभी तक केंकड़े का सिर नहीं है।

इस प्रकार भगवान ने बारी-बारी से सभी चिड़ियों और जीव-जंतुओं को भेजा लेकिन मिट्टी लाने में किसी को सफलता नहीं मिली। अंत में जोंक ने कमर कसी। वह सिर नीचे करके पानी के भीतर समा गयी। उसने मुंह से मिट्टी खा ली और ऊपर लाकर पाखाना कर दिया।

इसी मिट्टी से दुनिया बनी। उसका नाम पूपा देश पड़ा। भगवान ने उसमें सभी जीव-जन्तुओं को रखा। उसमें एक राजा हुआ जिसके दो लड़के हुए। बड़े का नाम करमा और छोटे का नाम धरमा था। पीछे चलकर वे बहुत गरीब हो गये। इसलिए बड़ा भाई करमा मजदूरी के लिए बहुत दूर चला गया। छोटा घर पर ही रह गया। बहुत दिनों के बाद जब करमा घर लौटने लगा तब उसने घर पहुंचने के पहले धरमा के पास खबर करने के लिए दो सिपाहियों को भेजा। उस समय धरमा कुडुम्बा वृक्ष की डाल गाड़ रहा था। सिपाहियों ने कहा तुम्हारा भाई करमा बहुत दूर से आया है इसलिए उसकी अगुवानी करने के लिए जाओ।

धरमा ने कहा—अभी ठहरो! अभी यहां सात सौ गोपियां और सात सौ रावन नाच रहे हैं। उन्हें तम्बाकू चूना देना है। धरमा की बात सुनकर दोनों सिपाही करमा के पास लौट गये और सारी बात बता दी, करमा ने फिर दूसरे दो सिपाहियों को भेजा। धरमा ने उनको भी वही उत्तर दिया।

Created by Bhartesh Mishra

इस बार जब दोनों सिपाही लौटे तो करमा को बड़ा क्रोध आया। उसने सोचा, मैं इतना धन कमाकर लाया हूं तब भी वह मेरी अगुवानी नहीं करता; इस जंगली पेड़ का क्या मूल्य है। इससे उसे क्या मिलता है, वह घर पहुंचा और जाते ही पेड़ को उखाड़ कर सात पहाड़ों और सात नदियों के पार फेंक दिया। उसने अपना धन भी नहीं बांटा और अकेले ही रहने लगा।

थोड़े दिन बीतते-बीतते करमा की दशा खराब होने लगी। उधर धरमा के दिन अच्छी तरह कट रहे थे। धान रोपने का समय आया। धरमा ने बहुत से मजदूरों को लगाया और करमा अपनी पत्नी के साथ उसी के यहां मजदूरी करने गया। रोपनी खत्म होने पर वह धरमा के घर वेतन लेने पहुंचा। धरमा ने कहा तुम ठहरो, घर के आदमी हो, मजदूरी तुमको क्या दें, यहीं खाना खा लेना। जब सभी मजदूरी देने का काम खत्म हुआ तब धरमा ने कहा अब तो कुछ शेष नहीं बचा है, तुम्हें क्या दें?

करमा क्रोधित होकर घर लौटा और कहता गया कि हमने जिधर खेत बांधा है उसे कोड़ देंगे और जिधर रोपा है उसे उखाड़ डालेंगे। वह अपनी पत्नी के साथ खेत में जाकर मेड़ को कोड़ने और रोपे हुए धानों को उखाड़ने लगा। अचानक एक अपरिचित आदमी पहुंचा और करमा से कहने लगा कि तुमने किधर उखाड़ा और कहां कोड़ा? करमा ने चकित होकर देखा कि उसके उखाड़े हुए खेत में फिर से धान लहरा रहा है और उसकी काटी हुई मेड़ जैसी की तैसी तैयार होती जा रही है। करमा अपनी पत्नी के साथ घर लौटा। लोगों ने उसे कहा कि तुमने करम पेड़ को जो उखाड़ कर फेंका था उसी का फल पा रहे हो।

अब करमा उस फेंके हुए पेड़ की खोज में चल पड़ा। रास्ते में उसे भूख लगी, एक जगह पका हुआ बेर दिखायी पड़ा। जब उसने तोड़कर खाने के लिए फोड़ा तो उसमें कीड़े भरे थे। वह फिर आगे चला, एक पेड़ पर गूलर पके थे। तोड़ने पर उसमें भी कीड़े निकले। उसे फेंक कर जब आगे बढ़ा तो प्यास सताने लगी। एक तालाब में पहुंचने पर उसने देखा कि सारा पानी गंदला है। आगे चींटियों का झुंड रास्ता रोके था। फिर खकसा का फल कीड़ों से भरा था। फिर सांप रास्ते में लेटा हुआ पड़ा था और आगे एक ग्वाला दूध दूह रहा था। करमा ने ज्यों ही उससे दूध मांगा कि लोटा ग्वाले के घुटने से सट गया। फिर एक चिउड़ा कूटने वाला मिला। करमा के पहुंचते ही उसका पैर ढेकी में सट गया और फटकने वाले का हाथ सूप से बंध गया। करमा आगे बढ़ा। रास्ते में एक नदी मिली, इतनी विपत्तियों से घबड़ाकर उसे करम देवता की याद आयी। उसने करम की पूजा करके नदी पार करा देने की प्रार्थना की। तब नदी से एक मगर निकला और उसकी पीठ पर करमा पार हो गया। नदी के पार करम देवता मिले। वे कीड़े मकोड़े बने थे। उन्होंने पकड़ने से रोका लेकिन करमा ने पकड़ ही लिया। तब करम देवता ने उसे एक चावल और एक दाल देकर कहा कि खाना बनाओ। जब करमा खाना बनाने लगा तो उतने से ही भात और दाल के घड़े भर

गये। भूखे-प्यासे करमा ने भर पेट खाया और खाने के बाद करम देवता से रास्ते के सारे संकट एक-एक कर बताने लगा।

करमा का सारा दु:ख सुन लेने पर करम देवता ने उसे भादों की एकादशी को लौटने की आज्ञा दी। करमा घर की ओर लौट पड़ा। रास्ते में चींटियां नहीं थीं, सांप रुपयों की थैली बन गया था। बेर और गूलर के वृक्षों में मिठाइयां लटकी थीं। तालाब निर्मल जल से भरा था। ग्वाले ने उसे भर पेट दूध पिलाया। भोक्ता ने सूप पर चिउड़ा दिया और करमा घर पहुंचा तो देखा कि धान के मोरों से घर भरा था।

उसने एकादशी को करम गाड़ा और करम देवता को मानने लगा। धन दौलत से उसका घर भर गया और फिर कभी उसको दु:ख नहीं हुआ।

उसी दिन से लोग भादों की एकादशी को करम गाड़ा करते हैं।

दूसरी कथा

''पूर्वकाल में करमा और धरमा नाम के दो भाई थे। करमा करम गोसाई की बड़ी भक्ति करता था और प्रति वर्ष भादों शुक्ला एकादशी को उसके यहां बड़ी धूमधाम से करम पर्व मनाया जाता था। इसीलिए लोग उसे करमा कहकर ही पुकारते थे, नहीं तो उसका नाम कुछ और ही था। इसी प्रकार धरमा का नाम भी कुछ दूसरा ही था पर धर्म में भक्ति होने के कारण लोग उसको धरमा कहकर ही पुकारते थे।

एक साल करमा के यहां धूमधाम से रकम पर्व हो रहा था। आंगन में करम वृक्ष गड़ा था। सामने जावे की डलिया रखी थी चारों ओर परबैतिनें थालियों में पूजा की सामग्री लेकर बैठी

Created by Bhartesh Mishra

थीं। पुरोहित पूजा करवा रहा था। ऐसे ही समय में धरमा वहां आ पहुंचा। वह बड़ा झुंझलाया। तर्जन गर्जन पर कहने लगा—"यह क्या जंगलियों की भीड़ है! तुमलोग क्या असभ्यता प्रकट करने यहां आये हो! दूर होओ, जाओ धर्म की शरण में जाओं।" ऐसा कह उसने जावे की डलिया को लात मारकर उड़ेल दिया और कदम वृक्ष को भी उखाड़ पखाड़ चलता बना। पर करम गोसाई की शक्ति तो देखो कि जावे की डलिया फिर ज्यों की त्यों हो गयी और करम वृक्ष भी जैसा को तैसा गढ़ गया। तब परबैतिनों ने भक्ति सहित पूजा की और प्रसाद लिया। सारी रात नाचने गाने और आनन्द मनाने में बीती। भोर होने पर करमा ने करम गोसाई से भेंट अकवार किया। पीछे दूसरों ने भी वैसा ही किया। घर की परबैतिनों ने करम के पत्तों में बासी भात और साग टीप दिया। तब सब परबैतनियां करम गोसाई को भसाने ले चलीं।

इधर धरमा ने जब सुना कि करम गोसाई के प्रताप से जावा ज्यों का त्यों हो गया और वृक्ष फिर गढ़ गया तब वह बड़ा कुपित हुआ। वह भोर में ही जाकर करमा के खेत का सब धान उखाड़कर चला आया। करमा और धरमा के जिधर खेत थे उधर से ही परबैतिनें करम भसाने ले जा रहीं थीं। सो करम गोसाई के प्रताप से करमा के धान जो धरमा ने उखाड़ दिये थे वे ज्यों के त्यों हो गये और धरमा के खेत के सब धान उखड़कर आड़ में आ गये। धरमा घर में निश्चिंत रहा कि आज करमा से हमने पूरा बदला ले लिया। पर कुछ दिन बाद जाकर धरमा ने देखा कि करमा के खेत में धान लहलहा रहे हैं और उसके खेत खाली पड़ें हैं और आड़ में धान के पौधे सूख रहे हैं। यह देख धरमा को अपनी करनी पर बड़ा दुःख हुआ। घर जाकर उसने सब कहानी सुनायी। तब धरमा के घरवालों ने भी दूसरे साल से करम व्रत करने के मन्नत मानी।

इसी प्रकार जो करम गोसाई को तुच्छ समझता है उसकी महा दुर्गति होती है और जो श्रद्धाभक्ति रखता है और साल में एक दिन उसके नाम से व्रत करता है वह धन धान्य से पूर्ण हो जाता है और उसके दिन आनन्द से बीतते हैं।"

तीसरी कथा

"एक साल करमा जब करम गोसाई को लाने जा रहा था रास्ते में देखा कि एक मनुष्य माथे में भारी बोझा लेकर ढेंकी कूट रहा है। कांड़ी में धान चावल के बदले केवल भूसा है। यह देख करमा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उस मनुष्य से उसका कारण पूछा। पर उसने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। बारंबार आग्रह करने पर उस मनुष्य की बहन इस प्रकार कहने लगी।

यह हमारा भाई घमंडू है। हम दोनों भाई बहन को छोड़ हमारे यहां कोई नहीं, न कुछ धन सम्पत्ति ही है। एक समय हमारा घर धन और जन से पूर्ण था। एक साल हम सबों ने बड़े प्रेम से करम एकादशी व्रत और पूजा की। बड़े बड़े थालों में मिठाई, लड्डू, पुआ, पकवान चढ़ाये। पर हमारे भाई को कुछ धन का मद हो गया था। इसलिए इसने नाचना गाना छोटा काम समझा और

इसको एकदम बंद करवा दिया। उसी से इसकी यह दशा है। यह बोझा सिर पर लेकर बराबर भूसा कूट रहा है। न निद्रा है न विराम। घर में कमाने वाला भी कोई नहीं। जो कुछ घर में था वह सब इसने खिलाने पिलाने में खप चुका। अब यह खाली टूटी फूटी झोपड़ी है। यदि इसकी मृत्यु भी हो जाती है तो इस कष्ट से छुटकारा पाता। क्या तुम किसी प्रकार इसके उद्धार का उपाय बता सकते हो?

करमा ने कहा—बहिन, इसने धन के अभिमान से सचमुच बड़ा खोटा काम किया। इसने अपने को बड़ा समझ न तो कुछ गुणगान ही किया न इसके मन में कुछ आनंद ही आया कि इसके आठ अंगों में एक अंग भी डोलता। इसने जो इतना प्रसाद चढ़ाया वह केवल बोझ ही था। वही बोझा मोटरी बनकर इसके माथे पर चढ़ा है। और इसने जो भक्ति से नाच गाकर आनन्द मनाना बंद कर दिया उसी का यह फल है कि यह बराबर ढेंकी कूट रहा है और कुछ बोल नहीं सकता। यह दुःख करम गोसाई की दया होने से ही दूर हो सकता है।

लड़की ने कहा—हम तो कल से निराहार हैं और घर में कुछ नहीं है तो हम करम गोसाई का व्रत और पूजा कैसे कर सकते हैं?

करमा ने कहा—यह बड़ा संयोग है। तुम करम गोसाई की आराधना करो और मन्नत मानो। कल संजोत था और आज एकादशी उपवास है। तुम कल से ही उपवास हो। जाओ, नहा धो कर भक्ति और प्रेम से गोसाई का स्मरण करो और मन्नत मानो। पास में कुछ नहीं है तो न सही, जाकर खेत से कुछ पके धान लाकर चूड़ा बना लो और तुम्हारे छप्पर पर खीरा लगा है सो एक खीरा लेकर फूल पत्ता करम गोसाई को चढ़ा देना। तुम्हारे धर्म से तुम्हारे भाई का उद्धार होगा। फिर दूसरे बरस सामर्थ्य के अनुसार व्रत और पूजा करना।

लड़की ने नहा धोकर करम गोसाई को स्मरण करके ज्यों ही मन्नत मानी कि उसके भाई के सिर की मोटरी हट गयी और ढेंकी कूटना बंद हुआ और उसे सारी पूर्व घटना स्मरण हुई। नहा धोकर वह भी करमा के साथ चल पड़ा। फिर भाई बहन दोनों ने करमा के बताये अनुसार रात्रि में करम गोसाई की पूजा की।

करम गोसाई के प्रताप से एक ही साल में उनका घर धन धान्य से भर गया। तब से प्रति वर्ष उसके यहां करम गड़ाने लगा और सारी रात नाच गान में बीतने लगी। लड़की ब्याही जाकर ससुराल गयी और वहां उसने सुपुत्र लाभ किया।

चौथी कथा

"करमा जब घमंडू को लेकर आगे बढ़ा तो देखता है कि एक झोपड़ी में एक युवक दुबला पतला बैठा है। उसकी बहन फटे पुराने कपड़े पहन तन झीण और मन मलीन उसको

Created by Bhartesh Mishra

मिठाई लड्डू खिला रही है। करमा को आश्चर्य हुआ कि यह क्या बात है कि ये दोनों ऐसी टूटी फूटी झोंपड़ी में रहते हैं, इनका शरीर जीर्ण शीर्ण है और तन ढकने को कपड़े तक नहीं हैं पर ऐसे दुःखी देख पड़ने पर भी युवक मिठाई लडडू ही खा रहा है। निकट जाकर पूछताछ करने पर जान पड़ा कि युवक गूंगा और बहरा भी है। करमा के आग्रह करने पर लड़की ने इस प्रकार कहना आरंभ किया—

एक दिन जब हमारे यहां करमा गड़ाया था तो विधिपूर्व हमने व्रत और पूजा की। रात को हमने खाने पीने में समय बिताया क्योंकि हमारे यह नीरसू भाई ने नाचना गाना यह कहकर मना कर दिया कि यह छोटपन है। तभी से इसकी यह दशा है। यह बहरा और गूंगा हो गया और मिठाई लड्डू छोड़ कुछ खाता भी नहीं। तिस पर भी आश्चर्य यह कि यह सूखता ही जा रहा है। मैं भी इसकी सेवा में लगी रहती हूं। कुछ काम धंधा भी नहीं कर पाती हूं और सब बासन बर्तन भी बेचकर खिला चुकी हूं। अब तो दो दिन से उपवास ही हो रहा है।

इतना सुन करमा ने कहा—यह करम गोसाई की कृपा है कि तुम संयोग से उपवास हो। तुम्हारे भाई ने करम गोसाई का कुछ महत्व नहीं समझा और अपने को बड़ा समझा जो इसने करम गोसाई के सम्मुख हरिगुण गाना और सुनना मना किया। उसी के फलस्वरूप यह गूंगा और बहरा हो गया। इसकी जिहवा भी रसास्वादन नहीं कर पाती जिससे यह ऐसा भोजन करने पर भी सूखता जा रहा है। इसका उद्धार करम गोसाई ही कर सकते हैं। सो तुम उनका स्मरण करो और मन्नत मानो। फिर जो पान फूल जुटा सको उसी से उनकी पूजा करो। यह तो तुम्हारे भाग्य की बात है कि कल से उपवास हो क्योंकि कल संजोत था और आज एकादशी है। जाओ, शीघ्रता करो।

इतना सुन करमा के बताये अनुसार नहा धोकर जैसे ही लड़की ने करम गोसाई का स्मरण किया और मन्नत मानी कि उसका भाई बोलने और सुनने लगा। वह भी नहा धोकर करमा के संग हो गया। रात्रि को भाई बहन दोनों ने करम गोसाई की पूजा की। एक ही साल में उनका घर धन धान्य से भर गया। तभी उसे उनके यहां बराबर करम गड़ाता है।

समय पाकर लड़की ब्याही जाकर ससुराल गयी और वहां उसने पुत्र लाभ किया।''

पांचवीं कथा

''करमा अब और आगे बढ़ा। जाते-जाते एक नदी के पास पहुंचा तो देखता क्या है कि एक विचित्र जीव के माथे पर एक बड़ा वृक्ष उगा है। वह उस भारी वृक्ष को माथे पर ढोकर दुःख से कातर इधर-उधर दौड़ रहा है। करमा को यह देख बड़ा आश्चर्य हुआ। उस विचित्र जीव ने करमा को देखकर बड़े कातर भाव से पूछा-भाई, तुम कहां जाते हो?

करमा ने कहा—आज भादों शुक्ला एकादशी है, इसलिए हम करम गोसाई को लाने जा रहे हैं कि अपनी शक्ति भर भक्ति से उनकी पूजा आराधना करें। तुम्हारी यह क्या दशा है?

उस जीव ने कहा—भाई, हमने करम गोसाई की मन्नत मानी थी पर मूर्खतावश हमने उनकी पूजा नहीं की। तुम उनके पास जा रहे हो सो हमारे दुःख की कथा उनसे कहना और हमारी ओर से क्षमा मांगकर हमारे उद्धार का उपाय पूछना।

करमा ने कहा—भाई, तुमने यह बड़ा दुष्कर्म किया। छल तो किसी से नहीं करना चाहिए। पर, तुमने देवता को भी ठगना चाहा। ऐसे तुम्हारे उद्धार नहीं हो सकता है। तुम करम गोसाई की शरण में जाओ। वे ही तुम्हारा उद्धार कर सकते हैं। तुम्हारे कोई हैं?

उस जीव ने कहा—इस अवस्था में, मैं करम गोसाई की क्या सेवा कर सकता हूं। और तो स्मरण नहीं पर मेरी एक बहन थी। न जाने वह जीती है या नहीं।

इतना सुन करमा ने उसकी बहन का पता लगाया। वह करम एकादशी का उपवास कर रही थी और उस समय जावा जगा रही थी। करमा के मुंह से सारी बात सुनकर उसने—''वह मेरा भाई बलकू है। उसने करमा गोसाई की मन्नत मानी थी और उसकी मनोकामना पूरी भी हुई। पर अब काम निकल गया यह सोचकर उसने करम गोसाई को भुला दिया। करम एकादशी से ही उसका पता नहीं था। बड़ा भाग्य है कि आपने उसका पता बताया। अब उसके उद्धार का उपाय भी आप ही बता सकते हैं।

करमा ने कहा—यह तुम्हारे ही धर्म का फल है कि आज यह संयोग हुआ। तुम करम गोसाई की आराधना करो तो तुम्हारे धर्म से उसका दुःख दूर हो जाएगा।

बलकू की बहन ने वैसा ही किया। बलकू के सिर पर से वह वृक्ष हट गया और बलकू अपने पूर्व रूप में आ गया। वह जल से निकल आया और करम गोसाई की पूजा में सम्मिलित हुआ।''

करम गोसाई की कथा सुनने के बाद महिलाएं रात भर नाचती-गाती हैं। इसमें निर्धन तथा धनी महिलाएं बिना किसी भेद-भाव के सम्मिलित होती हैं। इस अवसर पर जो गीत गाये जाते हैं, उन्हें झूमर, करम झूमर, करम संगीत, करम गीत आदि कहते हैं। ये गीत नागपुरी, बंगला, मुडारी कुड़ुख आदि भाषाओं में होते हैं, पर सब पर नागपुरी की छाप अवश्य मिलती है। इन गीतों की राग-रागिनियां भी भिन्न-भिन्न होती हैं, यथा पांतासालिया, झींगफुलिया, लुझारी आदि। उराँवों के बीच एक अलग राग भी प्रचलित है जिसे करम डंडी कहते हैं। करम डंडी का गायन कुड़ुख तथा नागपुरी दोनों में किया जाता है।

Created by Bhartesh Mishra

छोटानागपुर में करम पर्व का कितना महत्व है, इसका पता निम्नलिखित नागपुरी गीतों से लग जाता है—

1. ''पहुंचल करम का दिन गोई, नहीं जाब ससुरारी
कांचा हो बांस के डलवा बिनवबई, डाला लेले लोढ़े जाय गोई
नहीं जाब ससुरारी॥
नान्ही नान्ही धान के चिउरा कुटावबई, भइया घरे करम गड़ाब गोई,
नहीं जाब ससुरारी॥

2. श्री बृन्दावन में जो करम गड़ावल, चला जाहु देखें,
श्री बृन्दावन में खेलन भारी॥
केहु लेलें चौक चंदन केहु लेलें अबटन,

हाय हाय केहु लेलें सखी पाकल पान कि बटा भारी
रूकमिनी चौक चांदन पदमिनी अबटन, सखिन सबे लेलें
पाकल पान कि बटा भारी, हाय हाय सखिन सबे लेलें पाकल
पान कि बट भरी॥''

करम पर्व के अवसर पर कही जाने वाली जो कथाएं मिलती हैं, उनमें एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। प्रायः सभी कथाओं में धरमा या किसी अन्य पात्र के द्वारा नाच-गान की निंदा की जाती है और उसके द्वारा नाच-गान बंद करा दिया जाता है। नाचने-गाने की प्रथा को 'जंगलीपन' या 'छोटापन' तक कह दिया जाता है। इस निंदा के कारण उस पात्र की दुर्गति कई रूपों में देखने को मिलती है।

ईसाई मिशनरियों के द्वारा इस क्षेत्र में जब आदिवासियों को ईसाई बनाना प्रारंभ किया गया तो उनके द्वारा आदिवासियों के नाचने-गाने पर लगातार आपत्ति की गयी। मगर आदिवासियों ने भले ही अपना मूल धर्म छोड़ दिया, परन्तु उन्होंने नाच-गान कभी नहीं छोड़ा; क्योंकि यह उनके जीवन की अभिन्न अंग और पहचान है। यही बात यहां के सदानों के साथ भी है। धर्मान्तरित ईसाई तो अब यह स्पष्ट कहते हैं कि हमने अपना धर्म छोड़ा है संस्कृति नहीं। वस्तुतः उन्हें अपनी संस्कृति पर गर्व है। अब इसका यह सुपरिणाम देखने में आ रहा है कि ईसाई मिशनों में भी आदिवासियों के पर्व-त्यौहार धूमधाम से मनाये जाने लग गये हैं और ऐसे हर अवसर पर नाच-गान को सबसे अधिक महत्व प्रदान किया जाता है।

करम पर्व छोटानागपुर की संस्कृति की केवल एक पहचान ही नहीं है, बल्कि यह आदिवासी सदान हिन्दुओं की सांझी संस्कृति का एक अनूठा सम्मिलन है जो पता नहीं इस क्षेत्र में श्रद्धा तथा आस्था के साथ किस काल से मनाया जा रहा है और इसकी प्रतीक्षा दोनों समुदाय के लोग बड़ी आतुरता के साथ करते ही रहते हैं—

'भादों का एकादशी, सबे नारी हाँसी-खुशी।
आउ भाई खेलब रसिया, आजु करम केर रतिया॥
बाग बगइचा बारी सभे दिसे हरी हरी।
बड़ी रीझ लागे से गोइया आजु करम केर रतिया॥'

Created by Bhartesh Mishra

राजस्थान के खेल-तमाशे और लोक-नाट्य

डॉ. उषा कटारा

राजस्थान की संस्कृति में शक्ति, भक्ति और अनुरक्ति का अद्भुत समन्वय मिलता है। शक्ति के प्रतीक दुर्ग, भक्ति के प्रतीक मंदिर और अनुरक्ति के प्रतीक खेल-तमाशे एवं लोक-नाट्य आदि समस्त राजस्थान की बहुत प्राचीन धरोहर हैं। ऋतुओं के अनुसार आयोजित होने वाले विभिन्न पर्व-उत्सव, मेले, कलात्मक प्रदर्शन एवं लोक-नाट्य इस प्रदेश की गौरवशाली परम्परा का अभिन्न अंग है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक चलते आने वाले विभिन्न खेल-तमाशों एवं संगीत, चित्र, नाट्य आदि कलाओं में राजस्थान की लोक-संस्कृति का अत्यन्त जीवन्त सुनहरा इतिहास छिपा हुआ है। लोक-जीवन की परम्परागत झांकी इन कला-प्रदर्शनों में सहज रूप में मिल जाती है।

राजस्थान का पूर्वी छोर भरतपुर और पश्चिमी छोर जैसलमेर है। उत्तर में बीकानेर से दक्षिण में बाँसवाड़ा तक इस प्रदेश का विस्तार है। इस समस्त क्षेत्र को प्रकृति ने मरुस्थल और हरे-भरे जंगलों के पहाड़ी-दो क्षेत्रों में बांट दिया है। प्रकृति के इस विभाजन के अनुसार ही लोक-जीवन भी तरह-तरह के कलात्मक प्रदर्शनों में दृष्टव्य है। मंदिरों के उत्सवों पर, मेलों में, विवाहों और अन्य संस्कारों के अवसरों पर भांति-भांति के खेल-तमाशों और लोक-नाट्यों का शताब्दियों से प्रदर्शन होता आ रहा है। कई खेल-तमाशे धीरे-धीरे लोक नाट्यों के अत्यन्त मनोरंजक रूप में परिवर्तित हो गए हैं। इन लोक-नाट्यों से जहां जन-मनोरंजन होता है, वहीं परम्परागत जन-जीवन के विभिन्न स्वरूपों की सांस्कृतिक झांकी भी मिलती है।

राजस्थान में ख्याल-स्वांग, लीलाओं, नौटंकी आदि का बड़ा महत्व है। ख्यालों की जितनी अधिक शैलियां राजस्थान में पाई जाती हैं उतनी अधिक शैलियां किसी भी अन्य प्रदेश में नहीं पाई जातीं। इन शैलियों में मान और तुरकिलंगी बहुत लोक-प्रिय हैं। मारवाड़ी, कुचामणी, चिड़ावी, किशनगढ़ी, बीकानेरी, रझातें, जयपुरी आदि तरह-तरह के ख्याल स्थान-भेद से पाए जाते हैं। कठपुतलियों के खेलों ने भी मेवाड़ से मारवाड़ तक अपना स्वतंत्र स्थान बनाया है। विवाहोत्सवों में महिलाएं कई खेल करती हैं, जिनमें झानटडों, टूंटियों और खोड़ियों की

अधिक लोक-प्रियता है। पारिवारिक जीवन की अनेक प्रभावशाली झांकियां स्त्रियां इन खेलों में दिखाती हैं। त्यौहारों के अवसरों पर विभिन्न प्रकार के खेल-तमाशों और लोक-नाट्यों का अत्यन्त मनोरंजक आयोजन किया जाता है। मंदिरों की झांकियों में भी इसी प्रकार की परम्परा मिलती है।

वर्षा ऋतु के साथ ही राजस्थान में खेल-तमाशों एवं लोक-नाट्यों का आयोजन आरंभ हो जाता है। गवरी लोक-नाट्य यहां का बहुत प्रसिद्ध लोक-नाट्य है। वर्षा-ऋतु में इसका हृदय-हारी प्रदर्शन जगह-जगह देखने को मिलता है। इस लोक-नाट्य का प्रदर्शन प्रायः आदिवासी भील जाति के लोग करते हैं। इसमें शिव-पार्वती की कथा के कई रोचक प्रसंग विभिन्न रूपों में अभिनय करके दिखाए जाते हैं। गवरी अर्थात् गौरी; पार्वती की कथा के जो सूत्र पुराण आदि में बिखरे पड़े हैं, उन्हें आदिवासियों के लोक-जीवन में कैसे और कब प्रवेश मिला, यहं अपने-आप में एक बहुत रोचक प्रसंग है। आश्चर्य की बात यह है कि असभ्य माने जाने वाले भीलों की संस्कृति में 'गवरी लोक-नाट्य' का वह रूप कैसे विकसित हुआ, जिसमें संगीत, इतिहास, नृत्य, अभिनय आदि का अद्भुत समन्वय मिलता है। दक्षिण राजस्थान अर्थात् मेवाड़ क्षेत्र की आदिवासी भील जाति का यह एक अत्यंत प्राचीन एवं परम्परागत खेल है। 'नाट्य' रूप में इसका प्रदर्शन खुले मैदान में होता है। प्रायः रक्षा-बंधन के बाद ठंडी राखी के दिन शुभ मुहूर्त देख कर इसे भीलों के नाट्य-कर्ता समूह जगह-जगह आरंभ करते हैं आश्विन मास के प्रथम पक्ष तक 'गवरी' लोक-नाट्य का प्रदर्शन होता रहता है। निकटवर्ती लोगों की भारी भीड़ इन प्रदर्शनों को देखने के लिए एकत्र होती रहती है। भील अभिनेता अनेक प्रकार के रूप धारण कर 'गवरी' की कथा का नाट्य प्रदर्शन करते हैं। यह प्रदर्शन शिव-पार्वती की बात-चीत से आरंभ होता है, जो संवाद की अद्भुत मनोरंजकता लिए हुए दर्शकों को पूर्ण नाट्य देखने के लिए आकर्षित करता है। भीलों की सांस्कृतिक परम्पराओं को गंभीर मनोरंजन के साथ यह नाट्य दर्शकों तक पहुंचाता है। राजस्थान के भीलों की संस्कृति को समझने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए ये नाट्य-प्रदर्शन बहुत उपयोगी साधन सिद्ध होते हैं। भीलों के आचार-विचार, रहन-सहन के तरीकों, रीति-रिवाजों के चिह्न और रूप इन प्रदर्शनों में मिल जाते हैं। भीलों की बोली पूर्णतः समझ में न आने पर भी प्रदर्शन देख कर सब कुछ सरलता से समझ में आ जाता है, इसीलिए मेवाड़ी-भीली बोलियों को समझने वाले व्यक्ति ही नहीं, शहरी एवं विदेशी लोग भी 'गवरी नाट्य' का भरपूर आनंद लेते हैं।

गणेश चतुर्थी के अवसर पर राजस्थान के अनेक क्षेत्रों में बच्चों के द्वारा चौक-च्यानणियों का प्रदर्शन किया जाता है। छोटे-बड़े बच्चे मिलकर तरह-तरह के मुखौटे लगाए हुए स्वांग भरते हुए निकलते हैं। दशहरा-दीपावली पर ब्रज-प्रदेश की तरह ही यहां भी रामलीला के मनोरंजक प्रदर्शन होते हैं, जिनका सूत्रपात्र कृष्ण-जन्माष्टमी पर होने वाली श्रीकृष्ण-लीला की परम्परा का

Created by Bhartesh Mishra

अगला नया मोड़ बन जाता है। गण-गौर की परंपरा तो राजस्थान की अत्यंत लोक-प्रिय धरोहर ही रही है। राजस्थान के विभिन्न शहरों में इनका आयोजन किया जाता है, किन्तु जयपुर शहर में इनका प्रदर्शन देखते ही बनता है। होली के अवसर पर निकलने वाली तरह-तरह की सवारियाँ भी अनेक प्रकार के तमाशों की महिमा से मंडित रहती हैं। इन सवारियों के साथ चलने वाली लोगों की भीड़ मनोरंजक तमाशे करती हुई अपने सामाजिक सांस्कृतिक सहभागिता का प्रदर्शन करतीहै।

शादी के अवसर पर वर की विदाई के बाद गाँव में प्राय: स्त्रियाँ और बच्चे रह जाते हैं। ब्रज प्रदेश की तरह राजस्थान में भी महिलाएं बच्चों को सुलाकर रात के सन्नाटे को तोड़ती हुई तरह-तरह के लोक नाट्य करती हैं। उनके ये कार्यक्रम पहले संगीत से आरंभ होते हैं, फिर कोई स्वांग करने के लिए अभिनेताओं के वेश धारण कर लेती हैं। उनके ये प्रदर्शन ''झामटड़े ख्याल'' कहलाते हैं।

राजस्थान के खेल-तमाशों और लोक-नाट्यों की परम्परा के कुचामणी ख्याल भी बहुत लोक-प्रिय हैं।'कुचमण' एक स्थान है। वहां के निवासी पंडित लच्छीराम ने इन ख्यालों का सूत्रपात किया था, इसलिए इन ख्यालों का नाम कुचामणी ख्याल पड़ गया। इन ख्यालों का विभिन्न छंदों में लिखित रूप मिलता है। संगीत की सीमाओं को स्पर्श करने वाली बड़ी सधी हुई धुनें, टेरें एवं रंगते इन ख्यालों में मिलती हैं। नगाड़े, ढोलक, मंजीरे और हारमोनियम के साथ इन ख्यालों की संगति की जाती है। नाटकों के विदूषकों की तरह मजाकिए अभिनेता मंच पर आकर गाते-गाते अपना परिचय देते हैं। दर्शकों को खूब हँसाते हुए लीला आरंभ करते हैं लीला के साथ-साथ नृत्य भी चलता रहता है। संदेश ले जाने के लिए एक हलकारा रहता है। बजाने और गाने वाले कुछ अन्य व्यक्ति भी अलग बैठ कर लीला में अपना सहयोग देते हैं। अनेक प्रकार की लोक-धुनें इन ख्यालों में सुरक्षित हैं, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आ रही हैं।

शेखावाटी के क्षेत्र में ढोलक और सारंगी के साथ गीतों का प्रदर्शन किया जाता है। नगाड़े और हारमोनियम भी कहीं-कहीं प्रयोग किए जाते हैं। संगीत के तरह-तरह के राग इन ख्यालों में मिलते हैं। चौबोला के साथ ताल पर थिरकते हुए लोगों का प्रदर्शन मन को मोह लेता है। खेल के अंत में 'भैरों' देव की स्तुति की जाती है। चिड़ावा क्षेत्र में पाए जाने वाले ख्यालों के प्रदर्शन में लीला को उतना स्थान नहीं मिलता जितना संवादों को दिया जाता है। गीत के साथ-साथ नृत्य और उछल-कूद का समां बँध जाता है। गायक के स्वर के साथ वादक जब धुन मिलाने की कोशिश करता है, तब खेल का असली आनंद दर्शक भी लूटते हैं।

मेवाड़ में जो ख्याल मिलते हैं, उनको मेवाड़ी ख्याल कहते हैं। इन ख्यालों के प्रदर्शन में मेवाड़ी वेश-भूषा का मनोरंजक प्रयोग किया जाता है। मेवाड़ी पगड़ी पर चमकती सजावट ख्याल में चार-चाँद लगा देती हैं। किनारीदार झग्गा, उस पर पेटी, ऊपर पड़ा परतल्ला, घेरदार घाघरे, लहरदार धोतियाँ, औरतों के शरीर पर तरह-तरह के आभूषण कुल मिलाकर बहुत ही आकर्षक दृश्य बन जाता है। ख्याल देखने वाले अभिनय करने वालों के चारों ओर बैठ जाते हैं और बीच में ख्याल चलता रहता है।

किशनगढ़ क्षेत्र के ख्याल किशनगढ़ी कहलाते हैं। इनमें नाच के साथ-साथ गीत भी चलता है, जो मुख्य होता है। जयपुर में भी राग-रागनियों में धुन के साथ ख्यालों का प्रदर्शन किया जाता है। बीकानेर के ख्याल 'रम्मतें' कहलाते हैं। प्राय: होली के आस-पास इनका प्रदर्शन गली मुहल्लों में किया जाता है।

जैसलमेर रेगिस्तान में बसा हुआ ऐसा शहर है, जो अपने किले के एकांकी सौन्दर्य पर सदियों से गर्व करता आया है। चाँदनी रातों में इसके किले व रेत के टीलों की शोभा देखते ही बनती है। यह क्षेत्र भी लोक-रंगों की छटाओं से अछूता नहीं है। यहाँ भी तरह-तरह के खेल-तमाशे और लोक-नाट्य देखने को मिलते हैं। बीकानेर की तरह यहां भी रम्मतें प्रसिद्ध हैं। इनके प्रदर्शन के लिए तख्तों से मंच बनाया जाता है और तरह-तरह से सजाया जाता है। इस मंच पर छतरी के आकार का मंडप बनाया जाता है। यह मंडप बाँस-बल्लियों पर तना होता है। सभी अभिनेता इसी मंच पर अपना खेल दिखाने के लिए बैठते हैं, किन्तु प्रदर्शन नीचे जमीन पर करते हैं। क्रम-क्रम से अपने अभिनय की बारी आते ही हर अभिनेता मंच से उतर कर नीचे जाता है। प्रदर्शन कर चुकने पर फिर मंच पर आ जाता है। गीत, दोहे और उर्दू की शेरों तक का प्रयोग इन प्रदर्शनों में किया जाता है। गायन का ऐसा समा बंधता है कि दर्शक उठने का नाम नहीं लेते। विदेशी पर्यटक भी इन रम्मतों का खूब आनंद उठाते हैं और राजस्थान के रेगिस्तानी क्षेत्र की इस साँस्कृतिक सम्पन्नता की प्रशंसा करते नहीं थकते।

Created by Bhartesh Mishra

राजस्थान का पूर्वी क्षेत्र भरतपुर-अलवर है, जो उत्तर प्रदेश के खेल-तमाशों से जुड़ा हुआ है। भरतपुर में नौटंकी का अधिक प्रचार है। हजारों दर्शकों की भीड़ में नौटंकी का खेल जब चलता है, तब जो साँस्कृतिक वातावरण बनता है, उसकी जितनी अधिक प्रशंसा की जाए, उतनी ही कम है। ढोलक, नगाड़े, ढोपली, सारंगी, चिकारे आदि वाद्य-यंत्रों के साथ नौटंकी का गायन और अभिनय दर्शकों को मंत्र-मुग्ध कर देता है। नौटंकी की कथा के अनुसार पात्र तरह-तरह के वेश धारण करके मंच पर आते हैं। संवादों के साथ नृत्य और संगीत चलता रहता है और अभिनय होता रहता है। दर्शक इस अद्भुत नाट्य को देखते हुए आनंद में झूमते रहते हैं। यह लोक-जीवन की वह स्थिति होती है, जिसमें दर्शक समता की भावुक भूमिका में उतर जाते हैं। एक ऐसी संस्कृति प्रसार पाती है, जिसमें धर्मों, सम्प्रदायों एवं जातियों के भेद-भाव के लिए कोई स्थान नहीं रहता। राजस्थान, मध्य प्रदेश से लगा क्षेत्र धौलपुर भी नौटंकी के ऐसे ही प्रदर्शनों से आनंद प्राप्त करता है।

जब तक मैंने जिन खेल-तमाशों और लोक-नाट्यों की चर्चा की, उनमें सजीव पात्र भाग लेते हैं। लेकिन, राजस्थान के खेल-तमाशों और लोक-नाट्यों का एक ऐसा मंच भी है, जिसमें तरह-तरह की कठपुतलियां भाग लेती हैं, केवल उनका सूत्रधार मनुष्य होता है। वीरता के लिए प्रसिद्ध झीलों की नगरी उदयपुर कठपुतली-कला के क्षेत्र में विशेष स्थान रखता है। यहां 'लोककला मंडल' नाम का ऐसा संस्थान है, जो कठपुतली प्रदर्शन में विदेशों तक अपनी साख जमा चुकी है। श्री देवीलाल सामर नामक एक लोक-कला-मर्मज्ञ इस संस्था के जनक थे। विभिन्न प्रकार के ख्याल आदि का लोक-नाट्य तरह-तरह की वेश-भूषा में कठपुतलियाँ जब करती हैं, तब जीवित व्यक्तियों के अभिनय-जैसा ही समा बंध जाता है।

दंगली ख्यालों की एक परम्परा भी राजस्थान के 'करौली' तथा "श्री महावीरजी" नामक क्षेत्रों में मिलती है। इन दंगली ख्यालों को हेला ख्याल भी कहा जाता है। हेला देने के कारण इन्हें हेला ख्याल कहते हैं। नौबत बीच में रखली जाती है और मंडली के सभी गायक खड़े होकर देवी की सुमरनी के किसी एक या मुख्य गायक द्वारा गा लिए जाने के बाद बजती हुई नौबत के साथ हेला आरंभ करते हैं। सभी गायक मिलकर जोर से "अजी ए हो" की आवाज देते हैं जिसे टेर कहते हैं। यह ख्याल का मुख्य हेला होता है। उसके बाद विभिन्न राग-रागनियों में ख्याल का गायन एवं अभिनय चल पड़ता है। ढफली, चिमटा, चंग, तुरई, नाद, आदि बाजों का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार के हेला प्रदर्शनों के लिए बड़े-बड़े शामियाने लगाए जाते हैं, जिनमें अपार भीड़ ख्याल का आनंद लेती है। रात-रात भर चलने वाले इन हेला-ख्यालों के प्रदर्शन की कला-मंडलियों में होड़ लग जाती है, इसलिए इन्हें दंगली ख्याल कहते हैं। लोक-नाट्य का यह रूप जैसा राजस्थान में मिलता है, वैसा किसी भी लोक-नाट्य का कोई भी रूप संसार के किसी भी अन्य देश में दुर्लभ है।

अभी तक मैंने कुछ गिने-चुने खेल-तमाशों और लोक-नाट्यों की ही चर्चा की है। इनके अलावा भी राजस्थान के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में स्थानीय रंग लिए कई खेल-तमाशे प्रचलित हैं, जो सामान्य जनता का केवल मनोरंजन ही नहीं करते, उसकी सांस्कृतिक विशेषताओं को भी जीवित रखते हैं। इन खेल-तमाशों और लोक-नाट्यों को कई कलाकारों ने भित्ति चित्रों, पाषाण-चित्रों एवं अन्य अनेक प्रकार से जीवित रखने का प्रयत्न भी किया है, जिनको देख कर विदेशी-देशी दर्शक भी प्रभावित होते हैं।

राजस्थान के खेल-तमाशों एवं लोक-नाट्यों का सांस्कृतिक दृष्टि से ऐतिहासिक महत्व तो है ही, सामाजिक जीवन को मधुर सद्भावपूर्ण एवं मानवीय बनाए रखने में उनका बहुत योगदान है। आज भी जो संवेदनशील जीवन राजस्थान के आम लोग जीते हैं, वह बुद्धिवादी लोगों को आश्चर्य में डाल देता है। राजस्थान की सांस्कृतिक सम्पत्ति भारत के लिए निश्चय ही गर्व का विषय है।

Created by Bhartesh Mishra

सिन्धु घाटी सभ्यता की भाषा और लिपि

डॉ. मधुसूदन मिश्र

सिन्धु लिपि की खोज के आज 80 साल से ऊपर हो गये, शताब्दी बीत गयी, लेकिन समाधान अब तक प्रस्तुत नहीं हो सका। अनेक विद्वानों ने पढ़ लेने का दावा तो किया है, पर कोई मान्य नहीं हो सका। उनके पाश्चात्य विद्वानों के साथ कई भारतीय विद्वानों ने इसे द्रविड़ भाषा नाम दिया है, तो कई इसे संस्कृत ही मानते हैं। फलत: कोई इसे द्रविड़ शब्दकोषों में टटोलते हैं, कोई निघण्टु में । कुछ लोग तो प्रत्येक चिह्न में एक पूरा शब्द ही देखते हैं, जैसे कि ये × गुणा, % भाग, + जोड़, -घटाव के चिन्ह हों।

लेखों को देख कर तो यही कहा जा सकता है कि यह आज की जैसी कोई भाषा नहीं है। प्रत्येक चिह्न एक पूरा अक्षर मालूम पड़ता है, जो आज के किसी शब्द से कम नहीं। ऐसा भी कह सकते हैं कि इस भाषा में व्याकरण है ही नहीं, यद्यपि कम से कम दो तत्व तो आ गये ही दीखते हैं। इस पर आगे प्रकाश डालेंगे।

इसी बीच एक नयी समस्या आ खड़ी हुई है। अब लोग इसे सरस्वती सभ्यता कहने लगे हैं। पहले-पहल खुदाई सिन्धु घाटी में शुरू हुई, इसलिए यह नाम चल पड़ा था। पर अब तो लुप्त सरस्वती नदी इसका केन्द्र मालूम पड़ती है। सरस्वती को विद्या का स्रोत माना जाना इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। सिन्धु नदी तो पश्चिमी सीमा पर थी जैसे गंगा नदी पूर्वी सीमा पर। अत: इसे सरस्वती सभ्यता ही नाम देना अधिक उचित है।

संस्कृत के एकाक्षर कोषों में संस्कृत वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के कई अर्थ बताये हैं। जैसे द—पहाड़, भ—भौरा, ढ—कुत्ता, त—गर्भाशय, ब—मकड़ा, स—चिड़िया, प—पत्र, क—कछुआ, व—तीर, ष—स्तन, इत्यादि। संयोगवश, कम से कम ये सभी सरस्वती लेखों में दिखायी देते हैं।

जब मैंने लेखों को पढ़ने का प्रयास शुरू किया तो महादेवन् के अक्षरों की सख्या के अनुसार 230 पहाड़ को द, 53 भौंरे को भ, 50 कुत्ते को ढ, 54 मकड़े को ब, 323 पत्ते को प,

342 स्तन को ष पढ़ा। कुछ और भी चित्रलिपि हैं, पर उन्हें पहचानने में कठिनाई हैं। कुछ का संकेत एकाक्षर कोष में मिलता भी नहीं। बाद में, उन्हें भी पढ़ ही लिया। लेकिन उसका आधार कुछ दूसरा था।

एक दिन ; 1996 के मध्य में महादेवन् द्वारा संपादित सरस्वती लेखों को देखते-देखते मेरी नजर लेख संख्या 4132 और 4147 पर पड़ी जिनका तीसरा और चौथा अक्षर किसी दो ध्वनियों के दो अलग-अलग रूप मालूम पड़े। बहुत छान-बीन करने पर पता चला कि 4132 का तीसरा अक्षर व और चौथा अक्षर ण है। उसी प्रकार, 4147 का भी तीसरा अक्षर व तथा चौथा अक्षर ण प्रमाणित हुआ। 342 संख्या का अक्षर पहले ही ष प्रमाणित हो चुका था। इस प्रकार हमने केवल 5 अक्षरों को ही नहीं पहचाना, निम्नलिखित अक्षरों को पाणिनी के माहेश्वर सूत्र का प्रतिनिधि माना—

96	95	89	87	86	298	--	--	294	287
118	116	114	112						
ए	य	व	र	ल	ञ	म	ङ	ण	न
झ	भ	घ	ढ						
105	103	101	97	--	115	--	110	108	106
104	102	100	98						
ब	ग	ड	द	ख	फ	छ	ठ	थ	च
ट	त	क	प						
121	120	119	99	109	107				
श	स	ष	ह	ध	ज				

कुछ हेरफेर के साथ सरस्वती की अंकात्मक वर्णमाला माहेश्वर सूत्र में खप गयी। हमने एक-तिहाई से अधिक सरस्वती लिपियों को महेश्वर सूत्र की सहायता से पहचान लिया।

फिर ऐसा पता चला कि सरस्वती लेख तीन लिपियों में लिखे गये हैं। लेखन का आरंभ चित्रात्मक लिपि से हुआ था, जो क्रमश: ज्यामितीय लिपि में बदल गया। फलत: एक ही ध्वनि के दो रूप हो गये और दोनों साथ-साथ चलने लगे। पहले को छोड़ा नहीं गया। फिर वर्णमाला को वैज्ञानिक ढंग से सजाने के लिये अंकात्मक लिपि का विकास हुआ। सरस्वती लेख तीन लिपियों में लिखे गये हैं।

Created by Bhartesh Mishra

स्वरों के क्रम में कुछ हेरफेर अधिक हुआ। सरस्वती वर्णमाला में स्वर उ से शुरू होता था, जिसके पहले पाणिनि ने अ को रखा और जिसके लिए उन्हें क्षमायाचना करनी पड़ी; 1, 2, 27।

चूंकि लेख तीन लिपियों में लिखे गये हैं, इसलिए अंकात्मक लिपि की सहायता से चित्रात्मक और ज्यामितीय लिपि को पहचानना आसान हो गया। लेख 2659-2374 के मिलान से चित्रात्मक 59 न को पहचाना, 1013-2676 के मिलान से 72 म को, 2921-2564 के मिलान से 67 ह को। वैदिक शब्द रूर; बुखार की गर्मी को 1288 रूऊर की छाया मानकर 1. र अक्षर को पहचाना। 84 को ल के रूप के पहचाना। लेख संख्या 5094 (ण ग प्रकाश भाग रहा है) की छाया में वैदिक शब्द नग् (रात) को देखा और 17 ण अक्षर को पहचाना इसी प्रकार 155 को फ, 47 को ध, 12 को ठ के रूप में पहचाना। अक्षरों के आपसी ताल-मेल से बहुत से ज्यामितीय अक्षर भी पहचाने गये।

सबसे पहला वाक्य जो पढ़ा गया वह था त न ष (2659, 2374, 1365, 4464)-गर्भाशय से रत्न उपजता है। वेद में यही तनस् हुआ, जिसका अर्थ है-सन्तान।

सरस्वती लेखों की भाषा पृथक्पदा है। सभी शब्द एकाक्षर हैं। व्याकरण का नामो-निशान नहीं है। शब्दों का क्रम ही भाव व्यक्त करता है। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जहां व्याकरण के तत्व आ गये हैं। भाषा पृथक्पदा से मुक्तापदा सीढ़ी पर आ गयी है।

लेख संख्या 4378 द्र-घ, र-ग कहता है- अगलगी-भविष्य, भागना-आज्ञा-अगलगी होगी, भागो। देखिये व्याकरण के तत्व कैसे आने लगे। ऐसा लगता है, वेन्ट नहीं जानने वाला व्यक्ति गो पास्ट कह रहा है। सरस्वती लेखों में इससे अधिक व्याकरण के तत्व नहीं दिखायी देते। लगता है इसी समय उस समाज को छिन्न-भिन्न करने वाला कोई भूकम्प, जलजला, अगलगी हुई और सारा समाज बिखर गया।

एक समाज सुदूर दक्षिण चला गया जो द्रविड़ (गर्म सूर्य का देश) कहलाता था। एक दल मध्य भारत के जंगलों में चला गया। आज भी संथालों के घर में सरस्वती लिपि चित्रित दिखायी पड़ती है। एक दल सात नदियों के देश में चला गया जिसने बाद में वैदिक सभ्यता की नींव डाली। और एक दल तो ईरान और मध्य-एशिया होते हुए यूरोप तक चला गया।

द्रविड़ भाषा तथा सन्थाली तो मुक्तपदा सीढ़ी पर ही पैर पटकती रही, क्योंकि उनका जीवन कठिनाइयों से भरा रहा। लेकिन सप्तसिन्धु देश में भाषा मुक्तपदा सीढ़ी को पार कर संश्लिष्टपदा सीढ़ी पर आ गयी। इसी समय ईरान तथा सप्तसिन्धु में मंत्रों की रचना शुरू हुई। कुछ लोग ईरान से सप्तसिंधु में ही आ गये और वैदिक संस्कृति विकसित हो चली।

विकसित भाषा यद्यपि संश्लिष्टपदा है और सरस्वती लेखों की भाषा से दो पड़ाव आगे हैं, फिर भी सरस्वती लेखों की छाया वेद में भरपूर है। कुछ वाक्य तो घिस-पिट कर वेद में शब्द बन गये हैं—

त न ष का तनस् होना हमने देख ही लिया है। ग षु व ण ष (4132, 4147)-पौधे बढ़ते हैं, क्योंकि जल प्राण देता है। वेद में गच्छवनस् द्वारा आज भी गाछ वृक्ष प्रयोग में आता है।

श म यो ष (1013)-बुरा खत्म हो भला होवे। वेद में यह शं यो: हो गया।

ष ठ (8013)-गोला लुढ़का। वेद में इसका रूप है—हिरण्य गर्भ: समवर्तताग्रे। वाक्य भी घिसपिट कर सत हो गया, जिस पर उपनिषदों में खूब विचार हुआ है।

त न ष ठ (गर्भ से रत्न पैदा हुआ) एक, लम्बा इतिहास बताता है। तनस् से भी घिस-पिट कर तर्ष्ट बनाया जो अंग्रेजी के थर्स्ट, जर्मन दुर्स्त आदि में है। चूंकि सन्तान की चाह एक प्रकार की प्यास है, इसलिये तृष का अर्थ 'प्यासा होना' हुआ।

सरस्वती लेखों के घिसे पिटे शब्द वेद में एक-दो नहीं, सैंकड़ों हैं। 1305 रौ चि ष ; आग से प्रकाश होता है वेद में रोचिस (प्रकाश), 6104, 1154 न भ ष (आकाश में प्रकाश है) से नभस् (आकाश) 8011 व ण र (घर में जीव जाते हैं। से वनर (वनर्गू) (जिसके अनेक अर्थ हैं), 9102 व हो ष (भीतर से दिम्भ निकलता है) से वत्स (बछड़ा) 1123 ह ठ ष। (शून्य से गोला निकला) से (सतस् जिसका अर्थ विवादास्पद है) 2214 ढ बु ष (मेढक पानी लाता है) से ढावूस=बरसाती मेढक 1268 ल ठ (समय घुमता है) से रत द्वारा ऋत बना, जिससे मिलता-जुलता ऋतु है। 4225, म ण (रत्न चमकता है) से मन् (ऋग्वेद 8,78, 2) जो गेल्दनर के लिये भी पत्थर का अंचार है। 4289 र ण ष (आग से रत्न पैदा होता है) का ही रूपान्तर है-अग्निना रयिमानवत्। बाद में जिसे सरस्वती नदी कहा गया उसका बीज है 4094 ष र ष (पहाड़ से निकला है, रूक जाता है)। यही वाक्य घिस-पिट कर सरस् (तालाब, झील) बना। चूंकि सरस्वती नदी, इन तालाबों से भरी थी, इसीलिये इसका नाम सरस्वती पड़ा। अब कल्पना कर सकते हैं कि यह लेख कितना पुराना हो सकता है। पांच-दस हजार साल तो कोई माने ही नहीं रखता।

बहुत से पाश्चात्य विद्वान इन घिसे-पिटे वैदिक शब्दों को संस्कृत धातुओं से निकालने की चेष्टा करते हैं और मुंह के बल गिर पड़ते हैं। रोथ और मैकडौनेल तो क्या, गेल्दनर भी धराशायी हो जाते हैं। कुछ सफलता प्रो० रेणु को मिली है क्योंकि वे ऋग्वेद को भारतीय वातावरण से जुड़ा हुआ मानते हैं।

Created by Bhartesh Mishra

ऋग्वेद के कुछ अन्य घिसे-पिटे शब्द हैं जो सरस्वती सभ्यता के नागरिक वैज्ञानिक जीवन की याद दिलाते हैं। 2355 बु ज्ञ षु ढो ष (यदि पानी गंदा है तो बाहर फेंको)। आज भी देहात में ढोस द्वारा पानी फेंकते हैं।

6227 बु ज्ञ षु म णु ष (यदि पानी गन्दा है तो मरना निश्चित है।) वैदिक मनुस (आदमी) इसलिये आदमी नहीं था कि वह सोचता था (मन्), बल्कि वह मरणशील हैं। आजकल मनुस के मन् धातु से जोड़ते हैं।

4280 ब उ तू, (बकरा कुत्ते को जगाता है) की छाया ऋग्वेद 1-164-12 में है जहां कहा गया है-बकरे ने कुत्ते को जगाने वाला बताया। उस समय जब मेष राशि के अश्विनी नक्षत्र पर सूर्य आता था तो नया साल शुरू होता था। हिन्दी में यह वाक्य घिस-पिट कर बोतू (बकरा) हो गया है।

4304 र बी षु व ण ठ (जब आग से पानी गरम हो जाये तो कमरे में भाप घूमने लगता है) पहला वाक्य घिस-पिट कर वेद में ऋ बीस बन गया, जिसका अर्थ है- वह गढा जिससे भाप निकलता है। ऋग्वेद में चार बार अत्रि कुल के लोग इस ऋबीस में फंस गये जिन्हें अश्विनों ने बचाया।

सरस्वती भाषा की युक्तपदा सीढ़ी के बहुत से क्रिया रूप वेद में प्रत्य्य बन गये हैं। म-ह (बूढ़ा हो गया हूं) पितामह आदि में दीखता है। च-र (हुआ था) को पाणिनि भी प्रत्यय मानते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण बात है कि पांच से दस तक की संख्या वास्तव में सरस्वती वर्णमाला पर आधारित है।

माहेश्वर सूत्र को उल्टी दिशा में पढ़ने पर ---ह से प होते हुए त तक सात अक्षर बनते हैं। अत: हप्त=7, जो संस्कृत में सप्त, अनस्ता में हप्त; ह से ष होते हुए ट तक आठ अक्षर बनते हैं। अत: हष्ट-8, संस्कृत आदि में अष्ट, लेकिन फारसी में आज भी हश्त है।

अब क्या कोई संदेह है कि भारोपीय सभ्यता का केन्द्र कहां था ?

लोकगीतों में थिरकते आजादी के बोल

गोरख नाथ

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गाए गए लोकगीतों में एक ओर लंदन के कुत्ते हलवा और पूरी खाते दिखाई पड़ते हैं, तो वहीं भारत में छाये अकाल और विपत्ति के काले बादलों की गड़गड़ाहट सुनाई पड़ती है। दरअसल इन लोकगीतों में जहां एक ओर भारतीय लोक जीवन की झांकी है, तो दूसरी ओर आधुनिक भाव बोध और राष्ट्रीय चेतना का स्पंदन भी हैं।

लोकगीतों के संदर्भ में सुहृद संघ के अधिवेशन में अमरनाथ झा ने कहा था 'इन सरल पदों में देश की यथार्थ दशा वर्णित है। इन गीतों में हम मनुष्य जीवन के प्रत्येक दृष्य को देखते हैं। कन्या के ससुराल चले जाने पर माता के करूण स्वर सुनते हैं। पुत्र के जन्म पर माता पिता के आनंद की ध्वनि पाते हैं, खेतों के बह जाने पर हताश किसान के कंदन, गृहिणी की विरह व्यथा, संतान की असामयिक मृत्यु पर मूक वेदना-यानी मानव जीवन की नैसर्गिक कविता का रसास्वादन करते हैं।'

दरअसल भारतीय लोकगीतों में हमारी संस्कृति, सभ्यता और इतिहास सुरक्षित है। लोकगीत हमारे मन के भीतरी वेग और उससे प्रेरित भावों का सहज उच्छलन हैं। गांवो में सीधी सादी आडंबरहीन जिंदगी जी रहे लोगों के हृदय में सुख-दुख हर्ष-विषाद के जो भाव उमड़े वे टूटी-फूटी अगेय पक्तियों में व्यक्त होकर धीर-धीरे लोकगीत बन गए। इन लोकगीतों में एक ओर भारतीय लोकजीवन की झांकी है, तो दूसरी ओर आधुनिक भाव बोध और राष्ट्रीय चेतना का स्पंदन भी हैं।

भारतीय लोकगीतों की संपत्ति दुनिया के दूसरे देशों के मुकाबले सबसे ज्यादा हैं। ये देश की थाती हैं। इसलिए इनका संरक्षण जरूरी बन जाता हैं। लोकगीत का एकमात्र उद्देश्य 'स्वांत: सुखाय' होता है। फिर भी इसमें इतनी क्षमता है कि सुनने वाले को यह भाव विह्वल ही नहीं करता बल्कि उत्साहित भी करता है। स्वाधीनता आंदोलन के दौरान जो लोकगीत गाए गए उनमें देशभक्ति की झलक साफ दिखाई पड़ती हैं।

Created by Bhartesh Mishra

विवाह के लोकगीतों में देशभक्त वर का वर्णन हुआ है। एक लोकगीत में एक स्त्री अपने पति से कहती है कि लड़की के लिए देशभक्त वर खोजों जो निपुण और गुणवान हो। जिसका ह्रदय देश के दुख को देख कर पसीज जाए और उसे हमेशा देश की भलाई का ध्यान हो—

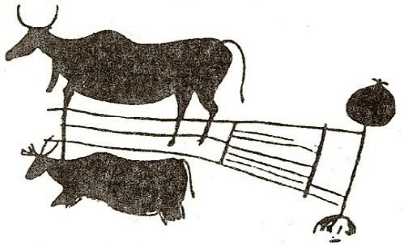

'अईसन वर बाबा खोजह सुदेशिया
जे हो निपुण गुणवान हो
देसवा के दुख जियरा पसीजे हो
हर दम देश के धियान हो।'

जबकि एक लोकगीत से कोई लड़की अपने पिता को समझाते हुए कहती है कि आप मेरा बाल विवाह मत कीजिए। क्योंकि यह न केवल सब दुखों का खजाना है बल्कि विवाह के ऊपर दुनिया का सारा भार लदा हुआ है। लड़की यह भी कहती है कि बाल विवाह से ही देश का नाश हुआ। यह भारत गारत हो गया। और भारतीय समाज की नीव डगमगा रही है। न मालूम कब डूब जाए—

'बाल विवाह से देश नास भइलें
डगमग डोलतिया नाव हो।'

गांधी युग में पुरूष आजादी की लड़ाई में कूद पड़े थे। औरतें घर में बैठ कर चरखा चलाते हुए स्वाधीनता आंदोलन को गति दे रही थी। यही वजह है कि इस दौर में गाए गए लोकगीतों में चरखा का बार-बार जिक्र मिलता है। एक लोकगीत में स्त्री अपने पुत्र जन्म के अवसर पर अपनी सखियों से कहती है कि तुम सब मिलकर चरखा चलाओ और इस युग में परिवर्तन कर दो। चरखा का गीत सुहावना और मन को अच्छा लगता है। तुम सब चरखा चला देश के दुख को टाल दो—

'सखिया सब मिलि चरखा चलावहु जुग पलटावहु हो
चरखा के राग सोहावनि अति मन भावन हो
सखिया सब मिलि चरखा चलावहु देस दुख टारहु हो।'

इस स्त्री को बड़े यत्न, उपाय और उपचार के बाद बेटा होता है। देशभक्त परायण मां की अब दिली इच्छा है कि उसका बेटा देश की सेवा करे। वह कहती है कि मैं अपने पुत्र को देश की सेवा में समर्पित कर दूंगी। जब वह देश की सेवा करेगा तो उसका जन्म सफल हो जाएगा।

पुतवा के देबो भारत माता के सेउवा में,
माता के सेउवा में हो
ललन पूत करि देसवा के काम त जनम सुफल होई हें।

एक तरफ अंग्रेज सरकार इस देश की संपत्ति लूट कर ब्रिटेन भेज रही है तो दूसरी ओर देहातों में अन्न को तरसते लोग गुलामी की जंजीर तोड़ने के लिए जेल जाने को कमर कस रहे थे। गोरे सिपाहीं इनसे निपटने के लिए पहले से तैयार रहते थे। आजादी के इन दीवानों के हाथों में जब हथकड़ियां और पैरों में बेड़ियां डाली जाती थी तो पूरा देश जैसे पागल हो जाता था। एक लोकगीत में इन स्थितियों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है। इसमें एक भावज अपने देवर से कहती है कि गांधी जी ने सुराज के लिए आंदोलन छेड़ दिया है। अब भारत की रक्षा के लिए तुम्हें भी जेल जाना होगा।

गांधी के आइल जमाना देवर अब जेलखाना गईले

किसी देश प्रेमिका का पिया परदेस जाकर पैसा कमाना चाहता है लेकिन देश प्रेमिका चरखे का महत्व जानती है। क्योंकि चरखे से ही पेट भरेगा और सुराज मिलेगा। वह कहती है कि ऐ पिया। अब मैं चरखा कातूंगी। इसलिए तुम परदेश मत जाओ। तुम चरखा बना कर लाओ, मैं उसे कातूंगी। महात्मा गांधी का संदेश मान जाओ। देश की लाज चरखे से होगी। इसी से देशवासियों को सुख मिलेगा और दुख दूर होगा।

अब हम कातीब चरखवा, पिया मति जाहु विदेसवा
कातबि चरखा सजन तुहु लान
मिलिहें राही से सुरजवा।

और इस तरह यह देश प्रेमिका गांधी जी के आदेश से न केवल खुद चरखा कातना चाहती है बल्कि वह अपने घर में चरखा चलाना सीखना चाहती है। वह कहती है कि मैं इस देश में स्वराज की स्थापना करुंगी और अलख जगाऊंगी। एक लोकगीत में इस देशभक्त नायिका के मनोभाव का बड़ा ह्रदयस्पर्शी वर्णन मिलता है—

'गांधी के हुकुमवा हम मानिब ए हरि
खोली देबि घरवा में चरखा इसकुलवा
देसवा में अलख जगाइबि ऐ हरि।'

अंग्रेजी शासन के समय भारत की दुर्दशा का चित्र जहां भारतेंदु अपनी कविता

Created by Bhartesh Mishra

'हा। हा! भारत दुर्दशा न देखि जाई' में खींच रहे थे वहीं हमारे देहातों के अनपढ़ कवि इस देश की दारुण दशा से विचलित होकर अपनी टूटी फूटी पंक्तियों में अपने दर्द को गाकर मन को हलका कर रहे थे। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गाए गए लोकगीतों में एक ओर लंदन के कुत्ते हलवा और पूरी खाते दिखाई पड़ते हैं तो वहीं भारत में छाए अकाल और विपत्ति के काले बादलों की गड़गड़ाहट सुनाई पड़ती है।

जिस देश की औरतें सोने की थाली में भोजन परोसती थी वहां काठ का छोटा बर्तन भी दुर्लभ हो गया था। इन लोकगीतों में यहां तक कहा गया है कि यदि सम्राट अशोक और चंद्रगुप्त विक्रमादित्य इस देश में लौट कर आते तो फिरंगियों के अत्याचार को देख कर निश्चय ही आंसू बहाते। देश की कंगाली और बदहाली को देख कर स्त्रियां रोती और गाती थीं—

'हो गइले कंगाल हो विदेसी तोरे रजवा में
सोने के थाली में जहवां जेवना जेवत रहली
कठवा के डोलिया होई गइल मुहाल हो
आवे अशोक, चंद्रगुप्त हमारे देसवा में
लोखा बहावे देखि तोहरी हवाल हो।'

और लोगों को जब यह लगने लगा कि फिरंगी सरकार के राम नाम सत होने के दिन आ गए हैं, तो वे झूम-झूम कर यह लोकगीत गाने लगे—

'परदेसिया के नइया डगमग होले
देश गरीबी के भार लदल ना
राम नाम सत अब नदिया में होले।'

जिस तरह से हिन्दी.की कविताओं में राष्ट्रीय चेतना का प्रवाह मिलता है उसी तरह हमारे लोकगीतों में एक ओर गुलामी की वेदना है तो दूसरी ओर देशभक्ति और चरखे का राग है। आजादी के दौर में देहातों, खेत-खलिहानों, आंगन-चौपालों में गाए गए ये लोकगीत मात्र लोकगीत न रह कर 'सुराजी गीत' बन गए थे। इन सुराजी गीतों ने आजादी की ज्वाला को तेज करने में भूमिका बांधी, उसे भाषा शैली और अलंकरण के बोझ से लदी-फदी देशभक्ति की कविताओं से उन्नीस नहीं ठहराया जा सकता।

हमारे सांस्कृतिक प्रतीक-स्वस्तिक और मंगल कलश

श्रीमती धीरा वर्मा

भावनाओं को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करने की परंपरा प्राचीन है। भारत में भी विभिन्न अवसरों पर प्रतीकों का प्रयोग होता है। चाहे विवाह का मंगलपर्व हो अथवा जन्म या यज्ञोपवीत का शुभ अवसर हो। चाहे दीपावली, दशहरा, होली जैसे सांस्कृतिक उत्सव हों अथवा घर में वैसे ही किसी शुभ कार्य का आयोजन। जन्म या विवाह के अवसर पर घर के दरवाजे पर बंधी हुई बंदनवार, विभिन्न मांगलिक अवसरों पर घर के अंदर व बाहर बनी हुई विविध अल्पनाएं, पूजा के समय दीवाल या जमीन पर बने हुए विविध स्वस्तिक चिह्न, चौक के ऊपर रखा हुआ सुसज्जित कलश, कलश के ऊपर आम के पत्ते और ऊपर रखा हुआ नारियल या दीपक । यह सब हमारे सांस्कृतिक प्रतीक ही हैं। अर्धनारीश्वर, कमल, जगलक्ष्मी, बटराज, सरस्वती, दीपशिखा सभी विभिन्न भावों को व्यक्त करने वाले प्रतीक चिह्न हैं। इन प्रतीकों का अपना विशिष्ट अर्थ है। इनका अपना इतिहास भी है।

दीपावली हमारा सांस्कृतिक पर्व है। इस अवसर पर भारतीय हिंदू परिवार विविध रूप में अपने घर को सजाता संवारता है और अनेक विधि विधान से गणेश-लक्ष्मी का पूजन करता है। सारा घर दीपों की पंक्तियों से जगमगा उठता है। ऐसा कहा जाता है कि जिसका घर सबसे साफ-सुथरा होगा, सजा-सजाया होगा और जो प्रकाशित होगा, उसी घर में लक्ष्मी का पदार्पण होगा। लक्ष्मी सुख संपत्ति की अधिष्ठात्री मानी जाती है। इसी भावना से प्रेरित होकर लोग कई दिन पहले से ही घर की सफाई प्रारंभ कर दीपावली की तैयारी करते हैं।

दीपावली के अवसर पर घर की आनुष्ठानिक साज सज्जा में मंगलकलश तथा स्वस्तिक का विशेष महत्व है। ये हमारे सांस्कृतिक प्रतीक हैं और इनका प्रयोग भारत में शुभ कार्य के साथ शताब्दियों से होता आ रहा है। आइए आज दीपावली के अवसर पर इनके स्वरूप और अर्थ पर संक्षेप में विचार करें।

Created by Bhartesh Mishra

स्वस्तिक

भारतीय प्रतीक चिह्नों में स्वस्तिक का महत्व संभवत: सबसे अधिक है। यही कारण है कि हर मंगल पर्व पर स्वस्तिक चिह्न बनाया जाता है। कभी यह दीवाल पर बनाया जाता है तो कभी धरती पर, कभी अन्य वस्तुओं पर। स्वस्तिक मंगल चिह्न है और हर शुभ कार्य में इसका प्रयोग होता है।

स्वस्तिक का मूल ''सु-अस'' है। सु का अर्थ है अच्छा, कल्याण अथवा मंगल। अस् का अर्थ है अस्तित्व अर्थात् सत्ता। इस प्रकार स्वस्तिक का अर्थ है कल्याणकारी। स्वस्तिक की भावनाएं हैं— कल्याण हो। आपने अनेक मंगल अवसरों पर निम्न मंत्र पाठ सुना होगा :—

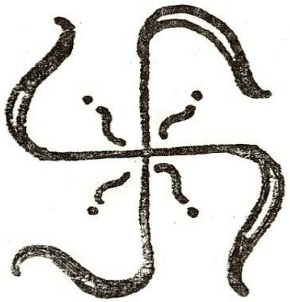

''स्वस्ति न इंद्रो वृद्धश्रवा:

स्वस्ति न: पूषा विश्वेदा:

स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमि:

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु''

इसका अर्थ है : महायशस्वी इंद्र हमारा कल्याण करें, विश्व का ज्ञान रखने वाला पूषा हमारे लिए कल्याणप्रद हो, जिसके पक्ष कभी नष्ट नहीं होते, ऐसा गरूड़ हमारा मंगल करे और बृहस्पति हमारे कल्याण को परिपुष्ट करें।

इस मंत्र के प्रत्येक चरण में **'स्वस्ति'** का प्रयोग हुआ है। स्वस्ति कल्याण वाची है। स्वस्ति अर्थात् कल्याण करने वाले को ही स्वस्तिक कहा जाता है।

स्वस्तिक कई रूपों में बनाया जाता है। स्वस्तिक का प्रतीक **धन+का** चिह्न है जो एक खड़ी रेखा और उसके ऊपर एक आड़ी रेखा खींचकर बनाया जाता है। खड़ी रेखा ज्योतिर्लिंग का प्रतीक है। ज्योतिर्लिंग विश्वोत्पत्ति का मूल कारण है जो खड़ी रेखा से बनाया जाता है। आड़ी रेख सृष्टि का विस्तार बताती है। इस सृष्टि का निर्माण ईश्वर ने किया और सब देवताओं ने अपनी-अपनी शक्ति का योग देकर इसका विस्तार किया। यही स्वस्तिक का भाव है। स्वस्तिक का प्रयोग विश्वव्यापी है और विभिन्न रूपों में इसका प्रयोग विश्व की विभिन्न संस्कृतियों में होता रहा है।

कहीं यह धन का चिह्न है तो कहीं गुणन का। स्वस्तिक की चार भुजाएं हैं जो चार दिशाओं की द्योतक हैं। चारों रेखाओं के अंत पर बनी हुई चार लघु रेखाएं जीवन की गतिशीलता की प्रमाण हैं। स्वस्तिक की चार भुजाओं को कहीं विष्णु की चार भुजाएं कहा गया है तो कहीं भारतीय हिंदू धर्मशास्त्र में गणपति का प्रतीक माना गया है। हिंदुओं के समान बौद्धों और जैनों ने भी स्वस्तिक चिह्न को पूज्य माना है और इनकी विभिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है। मिस्र, सीरिया, योरप आदि संस्कृतियों में इसे प्रजनन शक्ति का और भारत चीन में इसे सृजन का, शाश्वत जीवन के प्रतीक के साथ ही शाश्वत मंगल का द्योतक भी माना गया है। भारत में स्वस्तिक का पूजन अनेक मंगल पर्वों पर होता है और अनेक रूपों में यह बनाया जाता है। आपके संदर्भ के लिए स्वस्तिक चिह्न के विभिन्न रूप साथ में दिए जा रहे हैं जिनका विभिन्न धार्मिक अथवा सांस्कृतिक अवसरों पर आनुष्ठानिक मांगलिक सज्जा के लिए प्रयोग होता है।

मंगलकलश

भारत में विभिन्न मांगलिक अवसरों पर कलश का विशेष महत्व है। यही कारण है कि कलश को मंगलकलश भी कहा जाता है। चाहे जन्म हो या यज्ञोपवीत का अवसर हो, चाहे विवाह का शुभ मुहूर्त, चाहे दिपावली पूजन हो, सभी अवसरों पर कलश का प्रयोग देखा जा सकता है। कहीं कलश का पूजन होता है तो कहीं कलश घर की सजावट का प्रमुख अंग होता है। द्वार पूजा के अवसर पर मुख्य द्वार पर सजावट दो बड़े कलश से की जाती है। मंदिर के सर्वोच्च शिखर पर कलश की ही प्रतिष्ठापना होती है। कलश की स्तुति करते हुए कलश को विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा का स्थान कहा गया है। भारतीय संस्कृति के आचार्यों ने मंगलकलश में समस्त देवता, सप्तसागर, सत्पसरिता, सप्तद्वीप, पृथ्वी, चारों वेद, गायत्री और सावित्री सभी का निवास माना है। कलश सब पापों का शमन करने वाला और शांति का विस्तार करने वाला है। कलश का पूजन भारतीय शुभ कर्म में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

Created by Bhartesh Mishra

चूंकि कलश का पूजन महत्वपूर्ण है, इसलिए पूजन में कलश का प्रयोग करते समय विशेष प्रकार से मांगलिक कलश सज्जा की जाती है। उस पर विभिन्न प्रतीकात्मक चिह्न बनाये जाते हैं। अनेक ग्रंथों में इस कलश सज्जा का विधान भी बताया गया है। कलात्मक चित्रकारी से कलश आकर्षक भी लगता है। किसी भी पूजा में जब कलश रखते हैं, तो यह ध्यान रखने की बात है कि कलश कभी खाली नहीं रखा जाता है उसमें शुद्ध जल रखा होता है। जहां कलश रखते हैं, वह जगह भी साफ करके, अल्पना बनाकर आटे की चांक पूरते हैं फिर उस पर कलश रखते हैं। कलश एक भी रखा जा सकता है या कुछ लोग सुंदरता के हिसाब से दो, तीन या पांच भी बड़े से छोटे कलश क्रमश: एक के ऊपर एक रखते हैं। ऊपर के कलश पर आम की पत्तियां रखकर एक बड़ा प्याला रखा जाता है जिसमें धान अथवा गेहूं, अनाज रखते हैं उसके ऊपर एक दीपक जला कर रखते हैं या चाहे तो नारियल रखते हैं। कलश के ऊपर घर की स्त्रियां नीले पीले रंग से जो हल्दी आदि के सम्मिश्रण से विशेष रूप में तैयार किया जाता है चित्रकारी भी करती हैं। कलश सज्जा के कुछ नमूने दिए जा रहे हैं। आप भी दीपावली के अवसर पर अपना घर नए ढंग से सजाएं।

भोजपुरी लोकगीत-शैली : पवाँरा

डॉ. रमाशंकर श्रीवास्तव

गांव से खबर आई कि छोटे भाई के नवजात शिशु का बधावा गाने घर पर पवंरिया आने वाले हैं। उस अवसर पर मैं उपस्थित हुआ और पवाँरा सुनने का आनंद उठाया। 'पवाँरा' एक लोकगीत शैली है जो कथा और नाटक के साथ मिश्रित संगीत के रूप में प्रस्तुत की जाती है। भारत में ऋतु के पर्व-त्योहार और जीवन के अनेक अवसरों पर आधारित असंख्य लोकगीत हैं जो आज भी ग्रामीण श्रोताओं-दर्शकों का मनोरंजन करते हैं। ये लोकगीत हमारी संस्कृति की धरोहर हैं। इनमें अनाम गीतकारों द्वारा ऋतु पर्व और विभिन्न संस्कारों पर रचित गीत लयबद्ध रूपों में प्रस्तुत किए गये हैं। ऐसे गीत हमारी चेतना में रचे-बसे संस्कारों को प्रेरित करते रहते हैं। ये हमारी लोक संस्कृति के संवाहक हैं।

संस्कृति मानवीय मूल्यों और संस्कारों की एक लम्बी परम्परा का नाम है जिसमें जीवन की ऊर्जा हमारी भावना और कर्म को प्रेरित करती रहती है। सुंदर जीवन के मूल्य सत्य, प्रेम, निष्ठा, नैतिकता, धर्म, और त्याग जैसे तत्व संस्कृति के अवयव होते हैं। जिस राष्ट्र की संस्कृति का क्षय होने लगता है उसके नागरिक सर्वप्रथम इन गुणों से वंचित होने लगते हैं और अनास्था, अविश्वास अथवा शंकाओं के बीच राष्ट्रीय जीवन की शांति और विकास अवरुद्ध हो जाते हैं। इसलिए अतीत की सांस्कृतिक विरासत के अच्छे मूल्य मनुष्य के सुंदर भविष्य का निर्माण करते हैं। आज की भूमंडलीय परिस्थिति के विकट क्षणों में जो अनुकरण की हवा में भी अपनी सांस्कृतिक पहचान की रक्षा में सचेष्ट रहता है, वास्तव में, वही राष्ट्र और जाति का रक्षक है। संस्कृति एक दिन की उपलब्धि नहीं होती, उसे बनने और बदलने में युग लग जाते हैं। पीढ़ियाँ बदल जाती हैं। युगों से हमारे समाज में संस्कार गीतों की परम्परा है। ये गीत जीवन के लिए संजीवनी बूटी का काम करते हैं। आधुनिक जीवन शैली के तनावों में हमारा सहजता से जीवनयापन कठिन होता जा रहा है। ऐसी विकट स्थिति में ये लोक-गीत हमें सहज जीवन की प्रेरणा देते हैं।

Created by Bhartesh Mishra

अपने गाँव पहुंचकर जब पवाँरा सुना तो मन को बड़ा संतोष मिला। पहले भी मैंने पवाँरे सुन रखे हैं। पवाँरा एक लोकगीत है जिसमें लोक कथा, नाट्य और संगीत का मिश्रण है। भारत जैसे विशाल देश के विविध भागों में इससे मिलती जुलती लोकगीत शैली की प्रथा है। प्रस्तुति और भाषा भिन्न भले हो किन्तु संदेश में समानता होती है।

बिहार प्रदेश के भोजपुरी अंचल में पवाँरा गानेवालों को पवांरिया कहते है। ये भाट-चारण की कोटि के हैं। ये अपने यजमान की प्रतिष्ठा, धन-संतान आदि की वृद्धि के प्रति अपनी शुभकामना व्यक्त करते हैं। विशेषकर परिवार में शिशु के जन्म पर बधाई देने के लिए ये लोग गीत-नृत्य प्रस्तुत करते हैं। इसे ही बधावा नाचना कहते हैं। पवाँरा के जिस रूप और महत्व पर प्रकाश डाला जा रहा है उसका क्षेत्र बिहार के छपरा-सीवान और गोपालगंज का परिमंडल है। इस क्षेत्र की मुख्य भाषा भोजपुरी है।

पवाँरा में संगीत और प्रहसन का आनन्द आता है। पवंरिया लोग इस क्षेत्र में मुस्लिम जाति की श्रेणी में आते हैं। जीविकोपार्जन के लिए जो भूमिका ये अदा करते हैं वह हिजड़ों के समकक्ष मानी जा सकती है। शहरों और कस्बों में शादी विवाह अथवा पुत्र जन्म पर हिजड़े बधाई के गीत गाते हैं। आजकल ये किन्नर कहलाते हैं। शहरों में ढोलक लिए, साड़ी पहने और यदाकदा अश्लील मुद्राएं दिखाते और ताली बजाते ये लोग गीत गाते हैं और परिवार के लोगों से भरपूर नेग-रुपए पैसे लेकर हटते हैं। देने में जो कोताही करता है उसको भरी सभा में लज्जित करने से ये बाज नहीं आते। हिजड़ों में पुरुष-स्त्री दोनों होते हैं किन्तु पवांरिया दल में मैंने केवल पुरुषों को ही देखा है। किन्नरों की अपेक्षा पवंरिया लोगों के भी क्षेत्र बंटे होते हैं। एक दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करने पर उनमें संघर्ष भी होता है।

पुत्र जन्म की सूचना पाकर कुछ अंतराल पर पवंरिया दल सर्वप्रथम अपने यजमान के द्वार आकर अपने ढोलक का पूजन करवाता है। कोई महिला सिंदूर तेल से उस ढोलक को टीकती है और 'सीधा' रूप में चावल-दाल सब्जी आदि के साथ कुछ द्रव्य देकर पवंरिया को प्रसन्न किया जाता है। तदुपरान्त समय निर्धारित कर वे पांच-सात की संख्या में अपने साज-बाज के साथ आते हैं। यजमान के घर पर उनका नृत्य और गायन कई घंटे तक चलता है। इसका ग्रामीण दर्शक पूरा आनन्द उठाते हैं। गाँव का यजमान यदि किसी कारण शहर चला जाए तो पुत्र जनमोत्सव का बधावा गाने पवंरिया लोग शहर भी जा पहुंचते हैं।

'पवाँरा' एक प्रकार की व्यास शैली में गीत प्रस्तुत है। इनमें पूरे विस्तार से गीत के साथ कथा चलती है। इन गीतों में सोहर, ठुमरी, पूर्वी, दादरा, खेलावना, झूमर आदि भी गाए जाते हैं। वाद्य-उपकरण के नाम पर इनके पास एक या दो ढोलक, झाल और कुकुही होती है। 'कुकुही' छोटी सारंगी समान वाद्य है जिससे बड़ी मीठी तान निकलती है। मुख्य गायक अपने हाथ में कुकुही थामे बजाते हुए गीत सुनाता और पगताल से नृत्य दिखाता है। इसे 'पावटी' काटना भी कहते हैं। वह बीच-बीच में थमकर कथा को विस्तार से समझाता है फिर गीत की कड़ी को आगे बढ़ाता है। दूसरे सदस्य समवेत स्वर में उसके गीत को आगे बढ़ाते हैं।

उस रात अपने गांव पचरूखी में घर के सामने जब मैं पवाँरा सुन रहा था तब देखा कि इस लोक संगीत का आनन्द उठाने सौ-डेढ़ सौ ग्रामीण स्त्री-पुरूष आ जुटे हैं। एक महिला ने मुख्य गायक से प्रस्ताव रखा कि आज जरा भांजा-मामा का गीत सुनाओ। भोजपुरी पवाँरे में भगिना-मामा की लोककथा बड़ी रोचक और उपदेशपूर्ण हैं। वाद्यमंत्रों का कोई बड़ा तामझाम नहीं, अपनी मधुर लयधुन में कुकुही कुंकुआ रही थी और ढोलक-मजीरे वाले संगति के लिए सजे थे। उनका सामूहिक स्वर गूंज उठता था। कथा-वर्णन में कोई साथी मुख्य गायक से छोटा सा प्रश्न कर बैठता था। उत्तर देते हुए नाच-गान पुनः चलने लगता था।

मामा-भांजा के उस लोकगीत में सात मामाओं द्वारा अपने एकमात्र भांजे की सम्पति हड़पने के लक्ष्य से उसकी हत्या के षड्यंत्र की कथा चल रही थी। भांजा अपने मामा और मामियों के कपटपूर्ण व्यवहार को समझ नहीं पाता और उनके प्रीतिभोज के आमंत्रण को स्वीकार कर लेता है। स्वादिष्ट भोजन की थाल में जहर मिला दिया जाता है। और भांजे को वह जहर वाली थाल परोसी जाती है। इसी बीच सबसे छोटी मामी को अपने अबोध भांजे पर दया आ जाती है। वह सोचती है कि भूसम्पति के लिए एक निर्दोष व्यक्ति का प्राण हरण होने जा रहा है। षड्यंत्र को वह पचा नहीं पाती और भांजे को संकेत से बता देती है कि जहर वाली थाल मत खाना। अपनी थाल किसी मामा की थाल से बदल लेना। भांजा सावधान हो जाता है और षडयंत्र का भंडाफोड़ हो जाता है। अंत में भांजा अपनी छोटी मामी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उन षडयंत्रकारी मामा और मामियों की भर्त्सना करता है।

कथा-संगीत डेढ़ घंटे तक चला। उसमें करुणा, ओज, घृणा, रहस्य और व्यंग्य विनोद के भाव थे। उस संगीत भरी कथा को दर्शकों ने खूब मनोयोग से सुना और प्रसन्न हुए।

उस गीत की कुछ पंक्तियां है:—

मान जा ए भगिना तू बतिया हमार,

मामी बनवले बड़ी जवनार,

थरिया पवित्र कर आज तू हमार।

ऐ भांजे! हमारी बात मानो। तुम्हारी मामी ने स्वादिष्ट भोजन तैयार किया है। उसे ग्रहण कर तुम हमारी थाल को पवित्र करो।

Created by Bhartesh Mishra

गायक कुकडी बजाता हुआ नाचता था और बीच बीच में पावटी काटता था। ओजपूर्ण प्रसंग आने पर उसकी आवाज गगन तक गूंज उठती थी। कभी-कभी वह दो चार कदम कूद भी पड़ता था। ढोलक की धड़ाक-तड़ाक थाप पर आधी रात में ऊंघते श्रोताओं की नींद टूट जाती थी। हास्य-विनोद की लहर भी हिलोरे लेने लगती थी।

बचपन में एक पवाँरे में मैंने सुना था—

''रानी चल भइली, दरभंगा के राज।
खिड़की के राहे रानी डोलिया फनवली,
चल भइली, दरभंगा के राज।
लोग जाने रानी रूसल जास,
लोग जाने रानी नैहर जास।
चल भइली दरभंगा के राज।

उस गीत में दरभंगा की किसी रानी की प्रेम-कथा का प्रसंग था।

'पवांरा' के गीतों में मनोरंजन के साथ लोकधर्म, संस्कृति के गुण प्रेम, त्याग, न्याय, स्नेह, सदाचरण आदि के भी तत्व मौजूद होते हैं।

'पवांरा' में शिशु जन्म पर सोहर भी गाया जाता है। इसमें अकसर माँ कौशल्या और दशरथ का नाम आता है। राम जन्म की बधाई गाई जाती है। क्योंकि भारतीय संस्कृति में प्रत्येक नवजात पुत्र आदर्श राम का ही प्रतीक होता है।

'पवाँरे' में कई गीत ननदी-भौजाई से भी संबंधित है। प्रसव-पीड़ा में भाभी अपनी ननद से कहती है—

धीरे-धीरे उठेला दरदिया ये ननदिया मोरी रे,

ननद-भौजाई में जवाब-सवाल चलता है—

'केनिये से आवेला हर चुरिहरवा, ननदिया मोरी रे।
केनिये से अइले रंगरेज, ननदिया मोरी रे।'
जबाब-पुरुव से आवेला हर चुरिहरवा,
भौजाई मोरी रे
पछिम से अइले रंगरेज भौजाई मोरी रे।

'पवाँरे' में ऐसे और भी अनेक कथा-प्रसंग हैं जो गीत-प्रहसन में प्रस्तुत किए जाते हैं। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के विकसित युग में भी ये लोकगीत अपनी रोचकता और नाटकीयता के कारण ग्रामीणों में स्वागत पाते है।

इसमें संदेह नहीं कि हमारा भारतीय समाज आज तेजी से बदल रहा है। रुचियों में भारी परिवर्तन लक्षित है। देहात तक पहुंचा दूरदर्शन ग्रामीणों की वह भूख मिटाने में लगा है जो आज से दस-बीस साल पहले सांस्कृतिक कार्यक्रमों से मिटा करती थी। 'पवांरा', कठपुतली का नाच, आल्हागान, चैता-गान अथवा अन्य लोकगीत लोगों का खूब मनोरंजन करते थे। उनमें जीवन मूल्यों के जीवन्त उदाहरण होते थे। किन्तु आज की भौतिकवादी दौड़ में उस आकर्षण में कमी आई है। इस दृष्टि से 'पवांरा' का प्रचलन भी धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। 'पंवारा' गाने वाले अब थोड़े दान-दहेज से संतुष्ट नहीं होते। वे यजमान से जमीन, जेवर और कीमती सामान मांगते हैं। इनमें बहुत से अब शहरों में नौकरी करने लगे हैं। ऐसी दशा में 'पवाँरा' एक दिन अगली पीढ़ी के लिए इतिहास की कोई कथा बने, इस पर आश्चर्य नहीं।

Created by Bhartesh Mishra

कविताएं और चित्र साथ-साथ

डॉ. सादिक

शामा के चित्रों से प्रेरित होकर लिखी गई, नरेंद्र मोहन की कविताएं एक दिलकश साहित्यिक प्रयोग कही जा सकती हैं। नरेन्द्र मोहन की इन कविताओं के लिए शब्द ''प्रयोग'' लिखते हुए यह भी बताता चलूं कि मैं प्रयोग की कला, संस्कृति और विज्ञान इत्यादि ही नहीं बल्कि समूचे मानव जीवन को प्रगति की ओर निरंतर अग्रसर करने वाली एक केंद्रीय शक्ति के रूप में देखता-मानता हूँ। इसलिए जाहिर है कि मेरे नजदीक किसी क्षेत्र में किया जाने वाला प्रयोग अन्ततः कुछ न कुछ देता ही है।

हमारे देश में काव्य और गल्प साहित्य को आधार बनाकर चित्रकारों ने बड़े-बड़े कारनामे अंजाम दिए हैं। इतने बड़े भी कि जो महानता के शिखर पर पहुंचे और चित्रकला के इतिहास के सुनहरे अध्याय बन गए। अजंता के भित्तिचित्र इसका सब से उज्जवल प्रमाण कहे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, रागमाला और ''हम्ज़ा, नामा'' से लेकर दीवान-ए-गालिब के चुगताई संस्करण और फिर महादेवी वर्मा कृत 'यामा' तक इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं।

कविताओं को सामने रखकर बनाए गए चित्रों के मुकाबले चित्रों को सामने रखकर कविताएं लिखने की मिसालें ज्यादातर बीसवीं शताब्दी में मिलती हैं। समकालीन हिन्दी कविता भी इसकी मिसालों से खाली नहीं, लेकिन कहने दीजिए कि वह प्रयास इक्का-दुक्का चित्रों तक ही सीमित रहे यानी इक्का-दुक्का चित्रों पर कविताएं लिखी गईं जो समय की गर्द में दबकर गुम हो गई हैं। नरेन्द्र मोहन का यह प्रयोग/प्रयास उनसे बड़ी हद तक अलग है, इसलिए कि उन्होंने एक साथ बहुत से चित्रों को या यूं कहिए कि चित्रों की एक पूरी श्रृंखला को सृजनाधार बनाकर कतिपय छोटी-बड़ी कविताएं लिखने का प्रयोग किया और जिस चित्रकार की कलाकृतियों को आधार बनाया, वह भी कोई ऐसी जानी-मानी, नामी-गिरामी हस्ती नहीं, जिसकी शोहरत से फायदा उठाने की चेष्टा इन कविताओं की रचना के पीछे निहित बताई जा सके।

शामा ने ''खामोशी'' श्रृंखला के तहत छोटे-बड़े लगभग तीस चित्र बनाए हैं। इस श्रृंखला की शुरुआत खुद उनके अनुसार उस समय से होती है जब 1989 में कश्मीर छोड़ने के बाद वह खुद को बेहद तन्हा और खामोश महसूस करने लगी थीं। इन चित्रों का सृजन कर उन्होंने अपने एकांत को तोड़ने और खामोशी को जबान देने का प्रयास किया है।

नरेन्द्र मोहन की कविताओं में भी उस एकांत और खामोशी की हल्की-गहरी परछाइयाँ दिखाई देती हैं। शामा के चित्रों में एकांत में एक उदासी भरा सूनापन है जो कविताओं में प्रतिबिंबित हो गया है। चित्रों में शामा ने उस एकांत को उसकी उदासियों समेत स्वीकार कर लिया है, जबकि नरेंद्र मोहन की कविताओं में उसे खालीपन मानकर भरने की फिक्र ज्यादा है। शामा के चित्रों में एकांत के साथ ही खामोशी भी रची बसी मिलती है, जिसे नरेन्द्र मोहन ने बड़े कलात्मक ढंग से अपनी कविताओं में समो लिया है, आत्मसात कर लिया है। ''रंग लय'' शीर्षक कविता में वह कहते हैं :

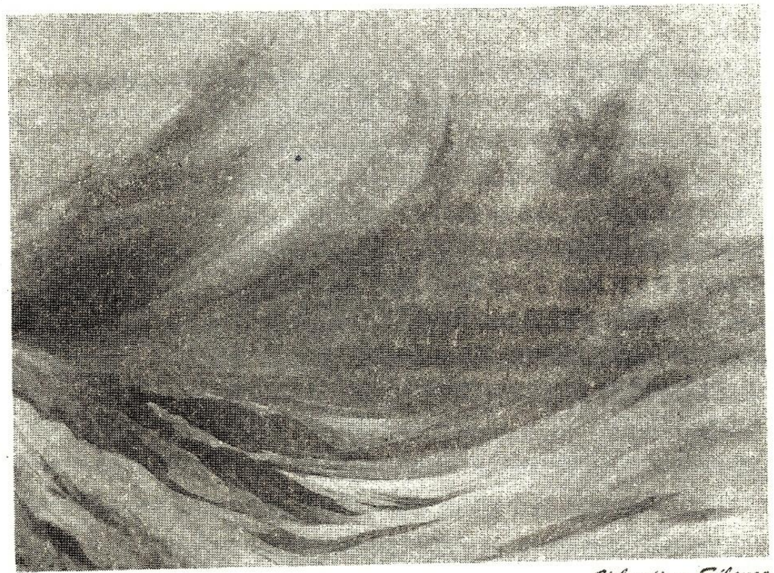

Vibrating Silence

Created by Bhartesh Mishra

एक सैलाब की तरह आते हैं ये चित्र, और
मुझे खामोशी के आलम में डुबो जाते हैं

और ''रंग आलाप'' शीर्षक कविता में अचानक पूछ बैठते हैं :

जानती हो क्या ?
खामोशी की यह इबारत
किस राग में है ?

और कविता में नरेंद्र मोहन ने दोनों की खामोशियों को इस तरह पेश किया है :

तुम रंगों से खेलती हो
अंतर्मन की खामोशी को
रंगों के रग-रेशों तक समाई
खामोशी तक ले जाती हो
फैलाती हो उसे अक्षितिज।

मैं शब्दों से खेलता हूँ
उनके पीछे की सरसराती खामोशी तक जाता हूँ
और आता हूँ बार-बार
उन रिश्तों में
जो प्रेम की नोक पर टिके हैं।

शामा के चित्रों को देखते हुए मेरे जेहन में अकबर पदमसी के मेटास्केप शृंखला के कुछ एक चित्र उभरे थे मगर साथ ही यह भी ख्याल आया था कि उन चित्रों में पदमसी ने रंगों को अपने जिस विशेष ढंग से इस्तेमाल किया है वह कुछ और ही अंदाज है। शामा के इन चित्रों का रिश्ता के रामकुमार के चित्रों से ज्यादा करीब का लगता है ········ और जब मैंने शामा को अपने मन की बात बताई तो उन्होंने बड़ी सादगी के साथ इसकी पुष्टि कर दी। कला की जीवंत परम्परा ऐसे ही तो निर्मित होती है।

नरेंद्र मोहन की ये कविताएं शामा के चित्रों के शब्दानुवाद का दर्जा नहीं रखती। वैसे भी अनुवाद की अपनी कुछ सीमाएं होती हैं जिन्हें लांघ कर बहुत दूर जा पड़ने का अन्देशा रहता है। फिर एक भाषा का दूसरी में अनुवाद करना भी विशेषकर कविता का खासा मुश्किल होता है। यहां

तो एक कला यानी चित्रकला का, दूसरी कला यानी कविता में अनुवाद करना तो एक बिल्कुल ही दूसरी तरह का तजुर्बा है क्योंकि चित्र में रचनाकार के जेहन का अक्स कागज या कैनवस पर पेश करने का अमल होता है जबकि कविता में ऐसी विचित्र शक्ति होती है जो महज शब्दों के प्रयोग से पढ़ने या सुनने वालों के मस्तिष्क में तस्वीरें बना देती हैं। चित्र स्थिर होते हैं जबकि कविता नहीं होती। यह सब बयान करने से मेरा मकसद कविता और चित्र का तुलनात्मक अध्ययन पेश करना नहीं बल्कि इस हकीकत को दोहराना है कि कविता की शक्ति बहरहाल असीम और जबरदस्त होती है।

नरेंद्र मोहन की इन कविताओं में आब्जेक्टिव कोरिलेटि्क्स के उदाहरण भी मिलते हैं। उन्होंने शामा के चित्रों के रंगों और रेखाओं को बड़ी फनकारी के साथ अपने निज के विचारों की अभिव्यक्ति का जरिया भी बना लिया है। मिसाल के तौर पर खामोशी-1 के अतिरिक्त उनकी यह कविता देखिए :

Desired Silence

Created by Bhartesh Mishra

The Hum of Silence

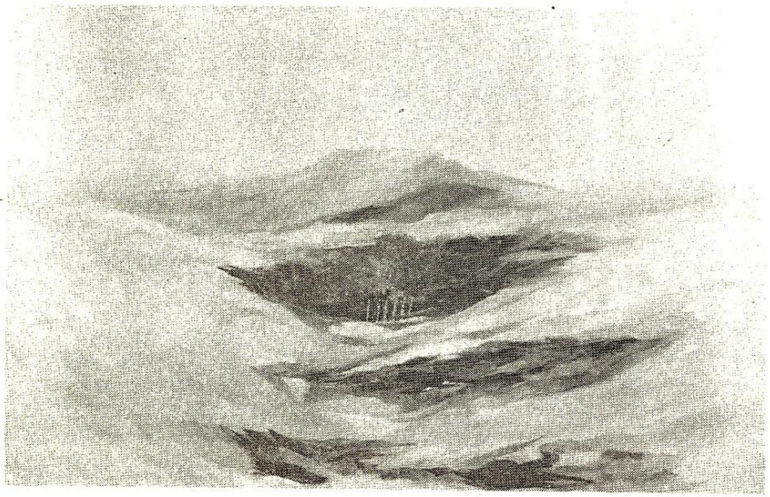

Enchanted Silence

नीला-घोड़ा
पल भर के लिए
रेखाओं-रंगों में दिखा
और गायब हो गया
रेखाएं और रंग बदलने लगे
कांपने लगे, और मैं बदला-सा
पोर-पोर में कंपकंपी महसूस करने लगा।

········· हां ······ तो नरेंद्र मोहन की ये कविताएं शामा के चित्रों के अनुवाद नहीं क्योंकि नरेंद्र मोहन ने उन्हें अपनी प्रेरणा का स्रोत मात्र बनाने का प्रयत्न किया है और इसमें वह कितने कामयाब हुए हैं, इसके बारे में कोई फैसलाकुन बात नहीं कही जा सकती है। मुझे इस समय उर्दू के एक रिवायती शायर दाग दहलवी का मशहूर शेर याद आ रहा है, कहते हैं :

खूब परदा है कि चिलमन से लगे बैठे हैं
साफ छुपते भी नहीं सामने आते भी नहीं।

नरेन्द्र मोहन की इन कविताओं में भी कुछ ऐसी ही कैफियत पैदा हो गई है। दाग की प्रेरणा का स्रोत उसका साँवला सलोना महबूब था जिसके बारे में उसने यह शेर कहा है और नरेंद्र मोहन की प्रेरणास्रोत शामा के बनाए हुए वे तेल चित्र हैं, जिनसे प्रभावित होकर उन्होंने इतनी बहुत-सी और खूबसूरत कविताएं की हैं जिनमें शामा के चित्र चिलमन से लगे बैठे हैं और बिल्कुल इसी तरह कि साफ छुपते भी नहीं और सामने आते भी नहीं ····· और मेरे नजदीक यही वह विशेष कैफियत है जो किसी साधारण को असाधारण बना देती है, किसी रचना में दिलकशी और हुस्न पैदा कर देती है और उसे बेहतरीन कलाकृति बना देती है।

Created by Bhartesh Mishra

हिन्दू एवं बौद्ध धर्मों में मानव-कल्याण-चिन्तन तथा करुणा की विश्व-संस्कृति

प्रो. रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

सृष्टि का प्रवाह अनादि और अनंत है। वह विविध रूपा है। मनुष्य इस सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी है। उसे हृदय, बुद्धि एवं वाणी का अनुपम उपहार प्रकृति से प्राप्त है। इन तीन शक्तियों के बल पर उसने समस्त सृष्टि पर नियंत्रण करने की निरंतर चेष्टा की है। इसी चेष्टा में उसने सुख और शान्ति के लिए समाज की रचना की है। इस रचना को व्यवस्थित रखने के लिए उसने राज-सत्ता एवं धर्म-सत्ता का विकास किया है। इन दोनों सत्ताओं को उसने सदा अपने लिए सुख के अनुशासनों में परिवर्तित किया है। किन्तु, विभिन्न देशों के इतिहास इस तथ्य के साक्षी हैं कि मानव-कल्याण के लिए आविष्कृत ये अनुशासन परस्पर सहयोग कम, विरोध अधिक करते रहे हैं। राज-सत्ता धर्म-सत्ता को अपने अधीन रखने की चेष्टा करती रही है और धर्मसत्ता राजसत्ता पर नियन्त्रण के लिए प्रयत्नशील रही है। व्यक्ति और उसका समाज दोनों इस अन्तर्विरोध में प्रभावित हुए हैं तथा उनकी सुख-शान्ति को निरन्तर नए-नए खतरों का सामना करना पड़ा है। किन्तु, मनुष्य निराश और परास्त नहीं हुआ। यह निरन्तर नई-नई व्यवस्थाएँ रचता रहा है। राज-सत्ता को उसने एकतंत्र, कुलीनतंत्र, सामंतवाद, फासीवाद आदि के मार्गों से निकालकर जनतंत्र तक पहुंचाया है तथा धर्म-सत्ता विभिन्न दर्शनों से होकर आचार और व्यवहार के नए-नए रूप धारण करती रही है। इतना सब कुछ होते हुए भी मानव-समाज आज संकट-ग्रस्त है। समस्त बीसवीं शताब्दी युद्धों, पराधीनता की पीड़ाओं एवं विभिन्न प्रकार के आतंकों से जूझती रही है। जनतंत्र निरन्तर नए-नए खतरों की जकड़न में फंसता जा रहा है। विभिन्न धर्मों एवं उनके दर्शनों का जनतंत्र के नाम पर निरन्तर विश्व-भर में दुरुपयोग हो रहा है।

हर्ष का विषय है कि विश्व के सर्वोच्च पर्वत हिमालय के शिखर-देश नेपाल में इस समस्या पर विचारार्थ समस्त विश्व के श्रेष्ठ साधु-संन्यासी एवं विद्वान मनीषी एकत्र हुए तथा विचारार्थ 'करुणा' जैसा महत्वपूर्ण विषय चुना, जो विश्व की इस गम्भीरतम समस्या के समाधान का केन्द्र-बिन्दु हो सकता है। एशिया के दो महान् धर्मों-हिन्दू एवं बौद्ध—के दर्शनों में 'करुणा'

का बीज-स्थान है। मानव-हृदय की गहनतम अनुभूतियों में 'करुणा' का रसनिधि लहराता है। इसी रसनिधि की उत्ताल तरंगों में तिरते हुए लुम्बिनी के जंगल में जन्मे कपिलवस्तु के राजकुमार सिद्धार्थ जन्म, जरा और मृत्यु के दुखों से मानव-जाति को बचाने के लिए राज-सत्ता का सुख त्याग कर अर्ध रात्रि में सन्यासी हुए। गहन साधना के उपरान्त कृश-काय सन्यासी सिद्धार्थ ने संसार के दुखों का समाधान खोज निकाला और मानव-जाति को चार सत्य बतलाए। उन्होंने कहा कि दुख पहला आर्य सत्य है। जन्म, जरा, व्याधि, मरण तथा इच्छित वस्तु की अप्राप्ति इस सत्य में सम्मिलित हैं। करुणापूर्ण हृदय लेकर राजमहल से निकले सिद्धार्थ ने गम्भीर तप द्वारा इस सत्य का आध्यात्मिक बोध प्राप्त किया। उन्होंने दूसरा आर्य सत्य प्रत्येक दुख का कोई-न-कोई कारण बतलाया और कहा कि वह कारण तृष्णा का एक रूप होता है। तृष्णा-ग्रस्त इस संसार को उन्होंने करुणापूर्ण दृष्टि से देखा, न कि घृणा या ईर्ष्या से। भगवान बुद्ध ने तीसरा आर्य सत्य बतलाया कि दुख को दूर करने का उपाय उसके कारण को तृष्णा-को-

Created by Bhartesh Mishra

दूर करना है। चौथा आर्य सत्य बताते हुए उन्होंने कहा कि दुखों से छुटकारा-मुक्ति-पाने का मार्ग अवश्य है। यह आष्टांगिक मार्ग है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्य, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् जीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि इस मार्ग के आठ अंग हैं। इन अंगों का व्यावहारिक आधार पर पालन करना ही मानव जाति के लिए सच्चा सन्मार्ग है। इस मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति ही दुखों का नाश कर सकता है। विज्ञान के इस युग में निरंतर वृद्धिगामी तृष्णाओं से उत्पन्न ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धाजन्य संघर्ष, भौतिक विलास आदि के कारण अनेक प्रकार के दुख मानव मात्र को ग्रसित कर रहे हैं। आर्थिक समृद्धि को उन दुखों से बचने का साधन मानना इस युग के मानव की सबसे बड़ी भूल है। यदि वास्तव में उसे सच्ची मुक्ति के सुख में जीवित रहना है, तो 'करूणा' पर आधारित भगवान् बुद्ध द्वारा दिखाए गये आष्टांगिक मार्गों का अनिवार्यत: अनुसरण करना होगा और तभी समस्त सृष्टि की कल्याण—चेतना मानव-समाज में आयेगी। कोई भी राज-सत्ता या विज्ञान-सत्ता बीसवी शताब्दी में प्राप्त सांसारिक दुखों की वसीयत को इक्कीसवीं शताब्दी में जाने से नहीं रोक सकी। भगवान बुद्ध का यह मार्ग धर्म-सत्ता का सुगम मार्ग है। हमें यह स्मरण रखना है कि मानव-बुद्धि ने धर्म-सत्ता की उपेक्षा करके राज-सत्ता का जब-जब साथ दिया है, तब-तब विनाश के संकटों का इतिहास रचा गया है। बीसवीं शताब्दी भी इस तथ्य की भयंकरता से नहीं उभर सकी। वैज्ञानिक अविष्कारों पर राज-सत्ता का एकछत्र अधिकार हो जाने और राज-सत्ता पर धर्म-बुद्धि-हीन व्यक्तियों का नियंत्रण हो जाने के कारण आज समस्त विश्व पर युद्धों एवं आतंकवाद के बादल घिर रहे हैं। हर मनुष्य भयभीत है। सुरक्षा-हीन एवं सुरक्षित सभी व्यक्तियों को मौत के साये में जीने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। ऐसी भयभीत शताब्दी की झुकी कमर और उठती अरथी को देख कर हर बुद्ध के हृदय में 'करुणा' का जो सागर लहरा उठेगा, वही हिंसा पर अहिंसा को एवं असत्य पर सत्य को विजयी बना सकता है। आज निर्दय अर्थात् दया या करूणा-विहीन मनुष्यों की बेतहाशा वृद्धि हो रही है। वे भौतिक विज्ञान के बल पर जिस व्यक्तिगत सुख की तलाश में दौड़ रहे हैं, वह सुख नये-नये दुखों में उन्हें धकेलता जा रहा है। उसी के परिणामस्वरूप युद्ध, संत्रास, आतंक, प्रदूषण, महामारी, विभिन्न रोग, बहुमुखी अन्याय और उत्पीड़न आदि की विभीषिकाएं मानव जाति के सामने खड़ी हैं। आध्यात्मिक विज्ञान की शरण में गए बिना इन दुखों से किसी प्रकार मानव का कल्याण संभव नहीं। भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित दुखों से मुक्ति का मार्ग सनातन हिन्दू मुक्ति-मार्ग ही है। 'इंडियन रिलीजन्स' नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने लिखा है कि 'बुद्ध ने किसी नये मार्ग या स्वतंत्र धर्म का प्रवर्तन नहीं किया। ये तो हिन्दुओं के प्राचीन धर्म का ही नया संस्करण था।' वस्तुत: भगवान् के पद तक पहुंचे सिद्धार्थ का बुद्धत्व हिन्दू-धर्म में समय के साथ आ जाने वाली बुराइयों का ही संशोधन-चक्र था। महात्मा बुद्ध ने जो चार आर्य सत्य बतलाये, वे उनकी उस 'करुणा' की ही साधनात्मक उपलब्धि थे, जो मनुष्य की

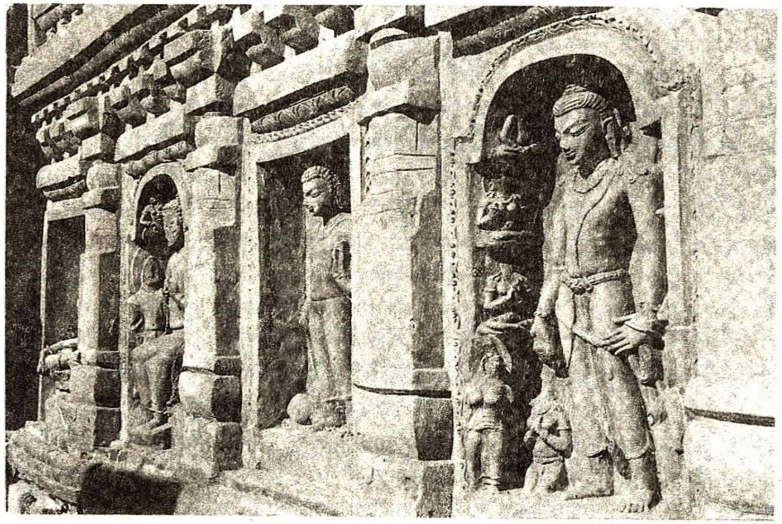

झुकी हुई रीढ़ और अवश्यम्भावी मृत्यु के बोध से उत्पन्न हुई थी। जीवन के इन सत्यों का सम्बोध वैदिक ऋषियों को बुद्ध से पहले हो चुका था। भगवान् बुद्ध ने उसको भावी जीवन के लिए मुक्ति का साधन बना कर मानव जाति को सौंपा। उन्होंने 'धम्मपद' में स्वयं वैदिक दर्शन एवं धर्म में निहित सिद्धांतों को अपने उपदेशों का आधार मानते हुए अपने मुक्ति-मार्ग को 'धम्मो सनन्तनो' नाम दिया है।

हिन्दुओं के लिए वर्तमान युग में 'श्रीमद्भगवत्गीता' तथा 'रामचरितमानस' आध्यात्मिक चिन्तन के प्रमुख आधार ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में भी दुखों से मुक्ति का वही मार्ग बताया गया है, जिसकी चर्चा हम महात्मा बुद्ध के उपदेशों के सन्दर्भ में कर आये हैं। गीता में समस्त कामनाएँ त्याग कर आत्मा से आत्मा में सन्तुष्ट प्राणी को स्थितप्रज्ञ कहा गया है, जो दुख-सुख, रागद्वेष, भय-क्रोध आदि से मुक्त, शुभ-अशुभ से ऊपर उठता हुआ इन्द्रियों को विषयों से समेट लेता है। जब इन्द्रियां वश में हो जाती हैं, तब हृदय निर्मल हो जाता है एवं समस्त दुखों का अभाव हो जाता है। मन को वश में कर के अहंकार-रहित होने पर ही शान्ति प्राप्त हो सकती है। गीता की यह धर्म-चेतना ही मानव-कल्याण-कारिणी वह मुक्ति-चेतना है, जिसका भगवान बुद्ध एवं भगवान कृष्ण ने समान भाव से उपदेश दिया है। यह चेतना 'करुणा' के मूल से उत्पन्न होती है। यही कारण है कि हिन्दु धर्मावलम्बियों की प्रार्थनाओं में ईश्वर माने जाने वाले शिव, शक्ति, राम, कृष्ण तथा अन्य देवी-देवताओं को करुणानिधि, करुणानिधान, करुणाकर आदि नामों से सम्बोधित

Created by Bhartesh Mishra

किया जाता है और उनसे दुख-मुक्ति के लिए याचना की जाती है। हिन्दू धर्म में भगवान को करुणानिधान मानकर प्रार्थना करने का जो विधान है, वह बाह्य दृष्टि से बुद्ध की करुणा से भिन्न लगता है। मोटे तौर पर ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दू धर्म में मनुष्य स्वयं सर्वथा असमर्थ है और बौद्ध धर्म में मनुष्य में ही वह करुणाशक्ति निहित है। किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से ध्यानपूर्वक देखने पर दोनों में कोई विशेष भेद नहीं रह जाता, क्योंकि हिन्दू जिस तत्व को ईश्वर या ब्रह्मा मानता है, वह उसी के भीतर निहित है, कोई बाहरी सत्ता नहीं है। जीवरूप में जो कुछ बाहर दिखाई दे रहा है, वह उसी ईश्वर का अंश है, इसीलिए वह अविनाशी है—'ईश्वर अंश जीव अविनाशी'। हिन्दुओं के शैवदर्शन के अनुसार परम शिव ही एम मात्र सत्ता है, जो शून्य है। उसी की इच्छा से उसी के भीतर उसी के द्वारा समस्त सृष्टि का उन्मीलन और निमीलन होता है। अत: जीव ही शिव है, किन्तु जब वह अपने शिवत्व को भूल कर पंचभूतात्मक सृष्टि में ही सुख मानता है, तब वह दुखात्मक अनुभूति का भागी बनता है और तभी वह अपनी मुक्ति के लिए अज्ञान-वश 'स्व' से बाहर ईश्वर को मानकर उससे करुणा की प्रार्थना करता है। किन्तु यह करुणा याचना भी निरर्थक नहीं है, क्योंकि अप्रत्यक्षत: इसमें उसके भीतर व्याप्त उसी परमात्म-तत्व से 'करुणा' की प्रार्थना है। अत: यह प्रार्थना भी मानव-कल्याण का ही मार्ग है, जो भक्ति-मार्ग कहलाता है। बुद्ध के मुक्ति-मार्ग के बीज इसी मार्ग में समान रूप से सन्निहित हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम पराधीनता काल में की गई करुणानिधान को बाहर देखने वाली इन प्रार्थनाओं में बुद्ध के आत्म-तत्व को प्रतिष्ठित करें और अपने भीतर छिपे उस ईश्वर को पहचानें, जिसे तुलसीदास ने रामचरितमानस में कभी भीतर और कभी बाहर बतलाया है तथा अपराधों, दुष्कर्मों से मुक्ति का मार्ग बताते हुए कहा है कि—

प्रनतपाल रघुनायक
करुणा-सिंधु खरारि।
गए सरन प्रभु राशि हैं
सब अपराध बिसारि॥

हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों में दार्शनिक चिन्तन की यह आधारभूत समान दृष्टि आज भी मानव-कल्याण के लिए हमें ये पंक्तियां दुहराने की प्रेरणा देती हैं—

सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, माकश्चिद् दुखमाप्नुयात्।
तथा—बुद्धं शरणं गच्छामि। धमं शरणं गच्छामि।
संघं शरणं गच्छामि॥

थाईलैण्ड
भारतीय संस्कृति जहां आज भी जीवित है

हिमांशु जोशी

आज दिसम्बर की 14 तारीख है। दिल्ली में घना कुहरा है। सुबह 'इंदिरा गांधी हवाई-अड्डे' के लिए निकले तो हाथ को हाथ नहीं सूझ रहा था। जब हवाई-अड्डे तक पहुँच पाना ही इतना दुष्कर है तो फिर वहां से रवाना होने वाली उड़ानों का क्या होगा?

पर, वहाँ पहुँचकर अच्छा लगा कि ऐसी कोई सम्भावना नहीं है। सारी उड़ानें नियत समय पर रवाना हो रही हैं।

थाईलैण्ड का नाम लेते ही अनायास अनेक चित्र आँखों के आगे तैरने लगते हैं। बचपन में भूगोल पढ़ते समय इसे 'स्याम' या 'सयाम' लिखते थे। संस्कृत मूल के इस शब्द 'स्याम' का अर्थ 'हरित/स्वर्णिम' धरा से था। परन्तु पश्चिम के प्रभाव से धीरे-धीरे रंग बदलने लगे। बाद में 'हिन्द-चीन' 'इण्डोचायना' हो गया। 'हिन्देशिया' 'इण्डोनेशिया' कहलाने लगा।

पर कभी-कभी अब लगता है शताब्दियों के इन परिवर्तनों के बावजूद जैसे कहीं विशेष कुछ बदला नहीं। अतीत वहाँ आज भी जीवित है, अपने वास्तविक रूप, वास्तविक रंग में। विशुद्ध भारतीय परिधान में, नृत्य की मनमोहक भाव-भंगिमाओं में थाई बालाएं। रामायण के विभिन्न कलात्मक रूपक। आचार-व्यवहार में भारतीय परम्पाएँ। बृहत्तर भारत, नहीं, नहीं एक और भारत अपने एक और अछूते रूप में—

सदियों पुरानी कलात्मक भव्य प्रतिमाएँ! बुद्ध, शिव, विष्णु, गणेश की मूर्तियाँ। आसमान को छूते स्वर्णिम पगोडा—बौद्ध एवं वैदिक—धर्म का अद्भुत समन्वय। सब अनायास एकाकार हो जाते हैं। संस्कृति, कला, धर्म का यह सहज समिश्रण किस उदान्त भाव का प्रतीक है, सहसा समझ में नहीं आता। ऐसा भारत, भारत में क्यों नहीं है......

Created by Bhartesh Mishra

विमान धीरे-धीरे गति पकड़ता हुआ, आसमान की ऊंचाइयों को छू रहा है। जिन घने, उनीले, उनींदे बादलों से शंकाएँ पैदा हो रही थी वे कहीं निचली से भी निचली सतहों पर रह गए हैं। इसके ऊपर मेघ-मालाएँ नहीं, मांत्र निरभ्र स्वच्छ नीला आकाश है—अपनी विशालता एवं विविध अनुपम छटाओं के साथ।

कुछ वर्ष पहले जब दिल्ली से पोर्ट ब्लेयर के लिए रवाना हो रहा था तो किसी सहयात्री ने बतलाया था कि दिल्ली से पोर्ट ब्लेयर और बैंकॉक की दूरी लगभग समान है तो आज उसी समान दूरी को, एक दूसरे रूप में तय कर रहा हूँ।

साढ़े तीन घण्टे का सफर। थाई-दूतावास से कुछ उपयोगी सामग्री मिल गई थी, उसके पन्ने पलटने लगता हूँ। सोचता हूँ—

सीमाओं से परे का यह असीम भारत मेरे लिए हमेशा क्यों गहरी जिज्ञासाओं का विषय रहा है? वह इतना रहस्यमय, रोचक, रोमांचक क्यों है? कभी-कभी कल्पना करते हुए भी सब सच नहीं लगता। अंग्रेजों के द्वारा हमें तो हमेशा मात्र यही सिखलाया गया था कि कश्मीर से कन्याकुमारी तक सीमाएँ हैं भारत की। फिर श्रीलंका, नेपाल, बर्मा, भूटान, तिब्बत, इण्डोनेशिया, लाओस, कम्बोडिया, थाईलैण्ड, विएतनाम, चीन, जापान, कोरिया, मंगोलिया आदि में बिखरा यह भारत कौन सा है? क्या है?

सदियाँ बीत गई, पर सदियों पूर्व संजोया सब, आज भी वहाँ ज्यों-का-त्यों धरा है, अनमोल धरोहर के रूप में।

भी-काडू नदी 'माँ गंगा' की ही अपभ्रंश है। इण्डोनेशिया की भाषा को 'भाषा इण्डोनेशिया' कहते हैं जिसमें लगभग अठारह प्रतिशत शब्द संस्कृत के हैं। वहाँ के पूर्व राष्ट्रपति का नाम सुकर्ण था। सुकर्ण की पुत्री का नाम 'सुकर्णपुत्री मेघावती' है। कहा जाता है कि सुकर्ण के पिता महाभारत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने भाषा इण्डोनेशिया में अपना अलग महाभारत लिखा था। सुकर्ण स्वयं अपने को घटोत्कच कहते थे। घटोत्कच का अवतार मानते थे। इण्डोनेशिया का नगर जकार्ता 'यज्ञकर्त्ता' का ही बिगड़ा हुआ रूप है। इण्डोनेशिया की तीनों सेनाओं की सम्मिलित पत्रिका का नाम 'त्रिशक्ति' है। बालिद्वीप के अधिकांश लोग वैदिक मत के अनुयायी हैं। उनके धर्मग्रंथ पाली और संस्कृत में है।

कम्बोडिया में अंकोरवाट विश्व का सबसे बड़ा हिन्दू मन्दिर है—आठ वर्ग मील के दायरे में बिखरी विष्णु, शिव आदि की विशाल प्रस्तर प्रतिमाएँ। वहाँ के राजघराने की सम्भ्रान्त महिलाओं को ''देबी'' नाम से सम्बोधित किया जाता है। लाओस की राष्ट्रभाषा तथा जन भाषा विशुद्ध पाली है, हाँ, उसे वे अब लिखते किसी अन्य लिपि में हैं।

इन दक्षिण-पूर्व के एशियाई देशों से थाईलैण्ड यानी स्वतंत्रता प्रेमियों का देश जिसे कभी स्वर्ण देश के नाम से भी जाना जाता था, वह और भी भारतमय है। इस समय वहाँ के राजा भूमिबल अतुल तेज का वंशगत नाम राचन्द्र नौ है। वहाँ भी एक अयोध्या है। उनकी अपनी एक 'लव पुरी' भी।

विमान धीरे-धीरे दलान की ओर फिसल रहा है। माइक पर सूचना प्रसारित की जा रही है ''अब हमारा विमान बैंकाक के निकट है। डान युवान हवाई अड्डे पर उतरने ही वाला है.....''।

यात्री सामान समेटने के लिए उतावले दीखते हैं। जैसे ही विमान उतरता है, चारों ओर एक नया नजारा दीखने लगता है। एक नई दुनिया।

अमेरिकी या यूरोपियन ढंग के विशाल ऐक्सप्रैस हाई-वे से हवाई अड्डा मुख्य शहर से जुड़ा है। कारें हवा से बातें करती हुई फर्राटे से भागी जा रही हैं।

बैंकाक दक्षिण-पूर्वी एशिया का सबसे महत्वपूर्ण शहर है। सड़कों की अपेक्षा नहरें अधिक हैं यहां। नावें यातायात के काम ही नहीं आती, उनके माध्यम से दैनिक-व्यापार भी होता है। सब्जी की ये तैरती दूकानें गली-गली में घूमती रहती हैं। वहीं-कहीं इन में जलपान की भी व्यवस्था होती है।

यहाँ भारत की तरह फेरीवाले नहीं दीखते। प्रायः सारा कारोबार इन्हीं जल-मार्गों से सम्पन्न हो जाता है। कहा जाता है कि 20-25 साल पहले की अपेक्षा अब ये जल-मार्ग कुछ कम संख्या में हैं। फिर भी आज बैंकाक 'पूर्व का वेनिस' कहा जाता है, इन जल-पथों के कारण। इनसे यात्रा करना सचमुच में एक रोमांचक अनुभव होता है।

मार्ग में 'राम-पथ' दीख रहा है, कहीं 'सीता-बाटिका'। जिस पाँच सितारा होटल में हमारे ठहरने की व्यवस्था है, कहां जा रहा है कि वह किन्हीं भारतीय मूल के नामधारी सिख महाशय का है, जिनके पूर्वज कई पीढ़ियों पूर्व यहाँ आकर बस गए थे।

लगभग दो लाख वर्ग मील में फैले, सवा तीन करोड़ आबादी वाले इस देश की कुल जनसंख्या के लगभग सात प्रतिशत लोग भारतीय मूल के हैं, जो विभिन्न व्यवसायों से जुड़े हैं।

थाइलैण्ड का सारा व्यापार दो समुदायों के उद्योगपतियों के हाथों में बतलाया जाता है भारतीय तथा चीनी मूल के। बड़े-बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों एवं होटलों के वे ही मालिक हैं। भारतीयों में भी अधिकांश नामधारी सिख हैं या पूर्वी उत्तर प्रदेश या बिहार के।

रास्ते के सड़क के किनारे-किनारे कचनार के हल्के बैंगनी रंग के फूलों से लदे वृक्ष देखकर नई दिल्ली की सड़कों की स्मृति ताजा हो जाती है। होटल में पहुँचकर कहीं से भी ऐसा नहीं लगता कि हम भारत में नहीं हैं। स्वागत-कक्ष में सिख गुरुओं के भव्य रंगीन चित्र सुशोभित

Created by Bhartesh Mishra

हैं। ताजा फूलों की रंग-बिरंगी मालाएँ। नीचे अगरबत्ती की सुगन्ध! प्रज्वलित दीपक!

होटल के मालिक सरदारजी लपक कर हमारा स्वागत करते हैं। कहते हैं यह होटल नहीं, घर है, आप लोगों का। आपको कोई कष्ट नहीं होगा।

जितने दिन रहे, सचमुच कोई कष्ट नहीं हुआ, घर-जैसा ही लगा।

दिल्ली के मुकाबले थोड़ा गर्म मौसम है। पूरे कपड़ों की आवश्यकता अनुभव नहीं होती, बल्कि दोपहर को धूप चुभती हुई जैसी लगती है। यहाँ के थैमसेट; धर्मशास्त्र विश्वविद्यालय में दो दिन का सेमीनार है। दोपहर पश्चात् विश्वविद्यालय जाते हैं तो वह हर तरह से हमें आकर्षित करता है। परिसर के मध्य में अश्वत्य यानि पीपल का एक विशाल वृक्ष है। जड़ों के ऊपर उसके तने पर रंग-बिरंगे कपड़ों की पट्टियाँ-सी फीते की तरह बँधी हैं। कच्चा रंगीन धागा भी लपेटा हुआ है। लगता है कि वृक्ष की पूजा-अर्जना का कार्य अभी हाल ही में सम्पन्न हुआ है।

भारत-विद्या विभाग की अध्यक्षा, प्राचीन इतिहास की प्राध्यापिका प्रो० श्रीसुरंग पुलथोपियों हमारी मेजबानी करती हुई बतलाती हैं कि थाई भाषा में युनिवर्सिटी को 'महाविथिलया' कहते हैं।

हाँ, थाई भाषा के लगभग चालीस प्रतिशत शब्द संस्कृत एवं पाली के हैं। उच्चारण में भिन्नता के कारण सीधे-सीधे समझने में व्यवधान आता है।

बातचीत का तथा सेमीनार का क्रम साथ-साथ चलता रहता है। भारत-थाई सांस्कृतिक सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य रामायण मुख्य विषय है। अनेक देशों के विद्वान अपने-अपने अनुभव एवं अनुभूतियों को उजागर करते हैं। केवाड़ सान विश्वविद्यालय मलेशिया की परसियन विभाग की अध्यक्षा प्रो० नोरिया मुहम्मद कहती हैं, मैं रामायण से बहुत प्रभावित हुई हूँ। इस्लाम पर आस्था रखती हूँ, पर यह ग्रंथ मेरे लिए प्रेरणा का अजस्र स्रोत है। मैं इसे धर्मग्रंथ नहीं, युग का एक यथार्थ-काव्य मानती हूँ। एक पिता के रूप में, एक पति के रूप में, एक पुत्र के रूप में, एक शासक के रूप में राम का जीवन-हर दृष्टि से मुझे आदर्श लगता है। मुझे विश्व-इतिहास में ऐसा नायक कोई दूसरा नहीं दीखता, जो इतना दयालु, इतना कर्त्तव्यनिष्ठ, समय आने पर इतना कठोर भी हो सके। ऐसा नीतिनिष्ठ आदर्श मुझे हर तरह से प्रेरित करता है ....। इसे धर्म की सीमाओं से बाँधना इसके प्रति न्याय करना नहीं होगा। यह एक व्यक्ति नहीं, विचार की महागाथा है ....।

थाईलैण्ड की राजकुमारी चक्री श्रीधरोन अपने वक्तव्य में कई महत्वपूर्ण नए तथ्यों को उजागर करती हैं।

मुझे याद आता है थाईलैण्ड की ही एक विदुषी राजकुमारी गलियानी यानी कल्याणी ने कुछ वर्ष पूर्व दिल्ली विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. की उपाधि प्राप्त की थी।

शाम को नदी में नौका-विहार का कार्यक्रम है। चाव-फरी नदी के तट पर बसा यह शहर, कई दृष्टियों से सदैव उल्लेखनीय रहा है। नदी के पश्चिमी तट पर धनपुरी है, और पूर्व में बैंकाक। दो भिन्न शहर हुए भी हर अर्थ में अभिन्न।

बैंकाक से पहले थाईलैण्ड की राजधानी सुखोदया थी, फिर अयोध्या बनी। सुखोदया साम्राज्य की स्थापना राजा इन्द्रादित्य ने की थी। उसके शासन-काल में नव-निर्माण के अनेक कार्य हुए। सन् 1377 में यह साम्राज्य समाप्त हो गया ......। डीजल-बोट जल-धाराओं को चीरती हुई, शनैः-शनैः आगे बढ़ रही है। उसकी दिशा अब दक्षिण नहीं, पश्चिम की ओर है।

चाव-फरी नदी में साँझ का सूरज डूब रहा है। जल पर रंग-बिरंगे अनेक प्रतिबिम्ब झिलमिला रहे हैं। चारों ओर विद्युत-प्रकाश टिमटिमाने लगता है। नदी का विस्तृत पाट दूर तक अपनी बाँहें पसारे अनन्तकाल से निश्चिन्त लेटा है ....।

यही है चाव-फरी का ऐतिहासिक तट, जहाँ पर ईसा से लगभग छह शताब्दी पूर्व सब से पहले भारतीय वैदिक धर्म प्रचारक एवं व्यवसायी रुके थे। इसी नदी के किनारे अपनी नन्हीं-नन्हीं बस्तियाँ बसाई थीं उन्होंने। अपने साथ वे अपना दर्शन लाए थे, अपनी विशिष्ट संस्कृति लाए थे, अपना धर्म लाए थे, अपनी भाषा अपने संस्कारों के साथ-साथ अपनी विशेष पहचान भी लाना न भूले थे। यहाँ रहकर यहाँ के लोगों के साथ वे दूध में पानी की तरह समाकर, हमेशा-हमेशा के लिए यहां के होकर रह गए थे। आज उनमें और यहाँ के मूलनिवासियों में कहीं कोई अन्तर नहीं रह गया है। यह पहचान भी एक तरह से समाप्त हो गई है कि उनमें कौन क्या था। सभी थाई हैं, थाई धरती के अपने सुपुत्र।

बौद्ध-धर्म, वैदिक-धर्म के बहुत समय बाद आया। जातक-कथा में, 'सुतपिटक' में लिखा है कि राजा महाजनक अपना भाग्य अजमाने के लिए 'समवर्णद्वीप' जाता है। इसका अर्थ यह है कि बुद्ध से पहले 'सुवर्षा द्वीप' से भारतीयों का आत्मीय सम्पर्क था।

कालान्तर में तीसरी शताब्दी ईस्वी पूर्व सम्राट अशोक ने अपने कुछ बौद्ध-भिक्षु विद्वानों को यहाँ धर्म-प्रचार के लिए भेजा था ....।

आप किस सोच में डूब गए भाई साहब? इकबाल कहते हैं।

मैं जैसे जागता हूँ। देखता हूँ—डीजल-बोट अब बीच धार में है। ऐसी एक नहीं, अनेक नावें कागज की किश्तियों की तरह, समुद्र की जैसी विस्तृत, इस विशाल नदी के विस्तीर्ण वक्ष में

Created by Bhartesh Mishra

तिर रही हैं। कतार की शक्ल में कुछ तेजी से भागती हुई पूर्व की ओर जाने के लिए मचल रही हैं।

मुझे केरल में कोचीन का दृश्य सहसा याद आता है, जब इसी तरह दैनिक-यात्रियों से नावें कोचीन से एर्नाक्यूलम की दिशा से आती-जाती हैं।

प्राचीन वैदिक-संस्कृति का प्रभाव थाई-संस्कृति में आज भी विद्यमान है। हाँ, यह भी एक यथार्थ है कि बौद्ध-मत के आगमन के बाद धीरे-धीरे वह धूमिल होने लगा था। परन्तु अपने अस्तित्व का अहसास वह आज भी जतलाता है।

लगभग दो हजार छह सौ वर्ष पूर्व थाईलैण्ड से भारत के आवागमन का जो क्रम आरम्भ हुआ था, वह आज तक अबाध गति से चल रहा है। दूसरे विश्व युद्ध के समय हजारों भारतीय रोजी-रोटी के लिए थाईलैण्ड गए थे, जो बाद में स्थायी रूप से वहीं बस गए। बाजारों में यत्र-तत्र उनकी खोखेनुमा दूकानें बड़ी संख्या में दीखती हैं। वे आज भी परस्पर भोजपुरी, मैथिली में बातें करते हैं। अपने उत्सव-त्यौहार मनाते हैं।

आज बौद्ध और वैदिक मत यहाँ पर इतने घुल-मिल गए हैं कि उन्हें अलग-अलग करके देखना सम्भव नहीं।

लौटते समय नदी का दृश्य और भी अद्‌भुत लगता है। अंधियारे में सारा शहर दीपावली की तरह जगमगा रहा है। नदी की श्यामल लहरों के साथ-साथ प्रकाश की अनगिनत धाराएँ भी प्रवाहित हो रही हैं। लग रहा है, जैसे स्वप्न-लोक का कोई अलौकिक दृश्य हो।

दिन में विश्वविद्यालय परिसर में ही बैंकाक में रहने वाली प्रवासी भारतीय महिलाओं के संगठन ने अतिथियों के लिए भारतीय भोजन की व्यवस्था की थी। परम सन्तोष हुआ कि इस यात्रा में भूखा नहीं रहना पड़ेगा। जापान और कोरिया प्रवास के कटु अनुभव अभी तक स्मृति-पटल पर कहीं अंकित थे।

वहाँ से लौटते ही एक विशाल भवन के विशाल रंग-मंच में विशेष रूप से अतिथियों के लिए रामकीयन के मंचन की व्यवस्था की गई है।

थाई संस्कृति की पहचान है—रामकीयन यानी रामकीर्ति! विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बतला रहे थे कि कुछ स्थानों पर पाँचवीं कक्षा से ही रामकीयन का पारायण आरम्भ कर दिया जाता है। बच्चे अपने-अपने ढंग से इसका मंचन भी करते हैं।

महाकवि बाल्मीकि द्वारा संस्कृत में लिखी रामायण थाई कवियों के लिए विशेष प्रेरणा का स्रोत रही। थाई-भाषा के अनेक महाकवियों ने अपने-अपने ढंग से इसकी पुनर्रचना की। उसी

का परिणाम है कि इस तरह की अनेक प्राचीन थाई रामायण आज भी उपलब्ध हैं। परन्तु आधुनिक राजवंश के निर्माता रामचन्द्र प्रथम द्वारा लिखी रामकीयन सबसे अधिक चर्चित रही।

राजा रामचन्द्र प्रथम संस्कृत एवं थाई भाषा के उद्‌भट विद्वान थे। अब से सैकड़ों साल पहले लिखी यह 'रामायण' आज भी वहाँ इतनी लोकप्रिय है कि थाई लोग विश्वास करने लगे हैं कि ये घटनाएं थाईलैण्ड में ही घटित हुई थीं। राम-रावण, सीता-सारे पात्र मूलतः थाई हैं।

थाई बौद्धों के घर-घर में आदर एवं श्रद्धा से पूजा जाने वाला यह ग्रंथ 'रामकीयन' ही है। संस्कृतियों एवं धर्मों का ऐसा अद्‌भुत समन्वय थाईलैंड में ही देखा जा सकता है।

नियत समय पर 'रामकीयन' आरम्भ होती है। परिष्कृत परिधानों में भारतीयता की स्पष्ट छाप दीखती है। जहां शब्द नहीं, मात्र भाव अभिव्यक्ति का जीवन्त माध्यम बनते हैं। मणिपुरी-नृत्य की जैसी स्वप्निल लय। श्रोता मुग्ध भाव से उसके अवलोकन में खो जाते हैं।

इसमें अपने किस्म के राम, अपने किस्म का रावण और अपनी तरह के हनुमान हैं। लगता है, पात्र अभिनय नहीं कर रहे, बल्कि यथार्थ का एक-एक सजीव क्षण स्वयं जी रहे हैं।

थाई नरेश ने बाल्मीकि रामायण का थाई में इस तरह रूपान्तरण किया है, थाई परम्पराओं में उसे इस तरह ढाल दिया है कि ऐसा लगने लगता है जैसे 'रामकीयन' थाईलैंड के अलावा, अन्यत्र की हो ही नहीं सकती। बहुत से मूल नाम भी अपनी सुविधा से थाई में ही कर दिए हैं, ताकि वह अधिक-से-अधिक स्वाभाविक लगे। रावण को रावण न कहकर 'तात सकान' यानी 'दशासन' दानव कर दिया है।

मूल कथा में भी यत्र-तत्र परिवर्तन दीखता है। जैसे हनुमान को ब्रहमचारी नहीं दिखलाया है। बालि को राम के हाथों क्यों मरना पड़ा, इसकी भी अपनी एक अलग व्याख्या है। मन्दोदरी के बारे में एक और दिलचस्प अध्याय जोड़ा गया है। 'सीदा' यानी 'सीता' के परित्याग की भी एक दूसरी ही कहानी है।

थाई रामायण को देखना, स्वयं एक सुखद अनुभव से गुजरना है।

लौटते-लौटते बहुत वक्त हो जाता है।

दिन भर की थकान। हम भोजन के पश्चात् चलने लगते हैं तो एक स्वीडिश पर्यटक व्यंग से हँसता हुआ कहता है, 'दुनिया में यह अपने किस्म का अकेला महानगर है, जो सारी रात जागता रहता है। शायद इसीलिए विदेशी सैलानियों की यहाँ इतनी भीड़ है। विलासिता में तो इसने पश्चिम को भी पीछे छोड़ दिया है।'

Created by Bhartesh Mishra

जगह-जगह पोस्टर लगे हैं—'एड्स से सावधान'। पोस्टर-ही-पोस्टर।

कहा जाता है कि विश्व में एड्स के सबसे अधिक रोगी यहाँ पाए जाते हैं।

प्रात: अभी बिस्तर पर ही हूँ कि पास कहीं से कोयल का जैसा सुमधुर स्वर सुनाई देता है।

चौंककर उठता हूँ। बाहर बालकनी की ओर लपक कर जाता हूँ—नन्हें-नन्हें वृक्षों के आकार के अनेक पौधे हैं। नाना भाँति के—फूलों के। पूरा एक जंगल बालकनी में उगा है। हरा-भरा। फूल ही फूल।

बाईं तरफ से फिर वही मधुर आवाज।

अपने सहयात्रियों को जगाता हूँ।

वे भी भागते हुए आते हैं। चौंकता हूँ।

'हाँ, कोयल ही तो है।'

जितने दिन यहाँ रहते हैं, यह चिड़ियाँ रोज-रोज आकर हमें जगा जाती हैं। थाईलैंड में भारत का भ्रम जगाती है।

अभी अयोध्या देखनी है। लवपुरी भी।

अज़ीमाबाद

पटना के सांस्कृतिक इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय

इमत्याज अहमद

पटना/अज़ीमाबाद का ऐतिहासिक नगर प्राचीन काल के पाटलीपुत्र के स्थल पर ही बसा है। छठी शताब्दी ई.पू. में अजातशत्रु द्वारा बसाया गया यह सैनिक केन्द्र मगध साम्राज्य की राजधानी भी बना और मौर्यकाल तक अंतर्राष्ट्रीय ख्याति वाले महानगर में परिवर्तित हुआ। इसका यह गौरव गुप्त सम्राटों के समय छठी शताब्दी ई. का मध्यद्धतक बना रहा। तदोपरांत यह पतनशील अवस्था में आ गया। हर्षकालीन चीनी यात्री, युआन च्वांग, के समय तक यह नगर उजड़ चुका था। इसे पुन: बसने और प्रांतीय राजधानी बनाने का काम सुप्रसिद्ध अफ़गान शासक शेरशाह सूरी ने 1541 में किया। इसका विस्तृत वर्णन तारीखे दाऊदी में मिलता है। जल्दी ही यह नगर एक महत्वपूर्ण राजनैतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक केन्द्र बन गया जो मुगल साम्राज्य के प्रमुख व्यापारिक केन्द्रों में एक था।

अठारहवीं शताब्दी के आरंम्भ में इस नगर का गौरव और बढ़ा जब औरंगजेब के पौत्र, शाहजादा अज़ीम, ने बिहार के सूबेदार का पद ग्रहण किया और इस नगर को 'अज़ीमाबाद' का नया नाम दिया। शहर को नये ढंग से बसाने और इसके सौंदर्यकरण में लगभग एक करोड़ रुपये खर्च हुए। शहजादे की अभिलाषा थी कि इस शहर को 'द्वितीय दिल्ली' बना दें। वस्तुत: साठ वर्षों तक अज़ीमाबाद का यह गौरवशाली रूप बना रहा। 1705-06 में पटना टकसाल में मुद्रित सिक्कों पर अज़ीमाबाद का नाम मिलता है। समकालीन मुगल दस्तावेजों में इसी नाम की चर्चा है। 1765 में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा दीवानी का अधिकार प्राप्त कर लिए जाने के बाद इस नगर को प्रशासनिक विपत्रों में पुन: पटना लिखा जाने लगा, परंतु यह परगना 1912 तक अज़ीमाबाद के नाम से ही जाना गया। उर्दू भाषा की साहित्यिक रचनाओं में इस नगर को निकट-अतीत तक अज़ीमाबाद ही लिखा जाता था।

Created by Bhartesh Mishra

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में जब नादिरशाह के आक्रमण 1738-39 के पश्चात् दिल्ली की स्थिति पतनशील थी, तब अज़ीमाबाद ने कई महत्वपूर्ण राजनैतिक घटनाएं देखी। 1713 में बादशाह फरूखसीयर और 1759 में शाहआलम 11 का राज्याभिषेक इसी नगर में हुआ। बंगाल के सुप्रसिद्ध नवाब अलीवर्दी खान का उत्कर्ष इसी नगर से आरंभ हुआ जब वह यहां नायब नाजिम के पद पर कार्यरत रहा।

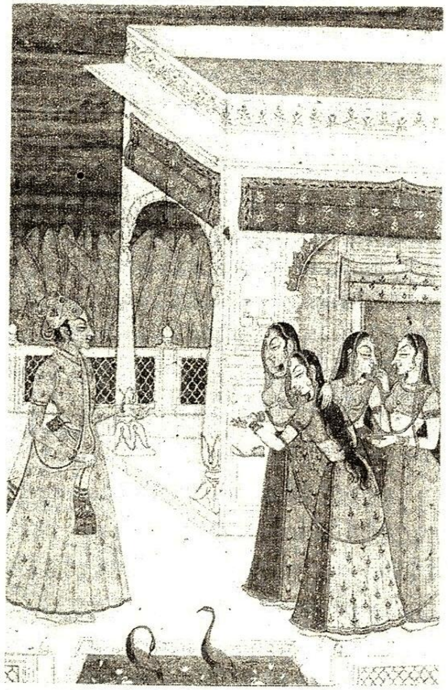

तत्पश्चात् उसका दामाद, जैनुद्दीन खान हैबत जंग उसी पद पर कार्यरत रहा; 1740-48। उसी के शासन के अंत में मराठों के आक्रमण ने इस नगर के राजनैतिक महत्व को समाप्त कर दिया। इसका सांस्कृतिक महत्व फिर भी बना रहा।

इसी अवधि में अज़ीमाबाद के माध्यम से पूर्वमध्यकालीन विद्या और अध्ययन के सुप्रसिद्ध केन्द्रों नालंदा, ओदंतपुरी, विक्रमशिला और तलियाढाका की गौरवशाली परंपराओं का जीर्णोद्धार हुआ। सत्रहवीं शताब्दी से ही इस नगर में फारसी भाषा और साहित्य का एक उत्कृष्ट रूप विकसित होने लगा था। सीयरुल मुताखेरीन का लेखक गुलाम हुसैन ताबातबाई, खुलासत-उत्-तवारीख का लेखक महाराजा कल्याण सिंह 'आशिक', मिर्ज़ा अब्दुल कादिर 'बेदिल' और राजा राम नारायण 'मौजू' जैसे कवि इस साहित्यिक परंपरा के उल्लेखनीय प्रतिनिधि थे।

अठारहवीं शताब्दी से उर्दू साहित्य के 'दबिस्ताने अज़ीमाबाद' का प्रारंभ हुआ। इसके प्रवर्तकों में 'रासिख' अज़ीमाबादी का नाम लिया जा सकता है जबकि इसके मुख्य प्रतिनिधि 'शाह' अज़ीमाबादी थे, जिन्होंने अपने संबंध में कहा था :

ढूंढोगे अगर मुल्को-मुल्को, मिलने के नहीं, नायाब हैं हम

ऐ अहले जमाना कदर करो, नायाब ना हों, कामयाब हैं हम

वर्तमान समय में इस 'दबिस्तान' साहित्यिक परंपरा के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि कवि पद्मश्री कलीम आजिज हैं जिनका काव्य-संग्रह "वो जो शायरी की सबब हुआ" अद्यतन उर्दू शायरी में एक मील का पत्थर है। अज़ीमाबाद के उर्दू शायरों में अधिकतर ने क्लासिकी उर्दू शायरी की प्रवृतियों का ही अनुसरण किया, किंतु कुछ ने नयी, पाश्चात्य प्रवृतियों और काव्य-शैलियों को भी अपनाया। इनमें सबसे पहला महत्वपूर्ण नाम डाक्टर अजीमुद्दीन अहमद 'अजीम' का है जो उर्दू भाषा में सॉनेट शैली का प्रयोग करने वाले पहले कवि थे। उनका काव्य-संग्रह गुलेनग़मा उनकी मृत्योपरांत 1953 में प्रकाशित हुआ।

उर्दू शायरी को समृद्ध बनाने में हिन्दू कवियों का भी स्मरणीय योगदान रहा। लाला उजागर चंद 'उल्फ़त', राजा राम नारायण 'मौज़ूँ' और राजा शिताब राय का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा। नवाब सिराज-उद्-दौला की हत्या पर राजा राम नारायण का भावुक शेर आज भी प्रसिद्ध है :

ग़ज़ालाँ तुम तो वाक़िफ हो, कहो मजनूँ के मरने की,

दिवाना मर गया आखिर को, वीराने पे क्या गुज़री

राजा रामनारायण ने हिन्दी में भी कुछ दोहे रचे। इनमें बहुत कम उदाहरण उपलब्ध हैं। एक उदाहरण निम्नलिखित है :

अम्बा अमृत पहल देत है, सदा रहत है मौन

बाहर ते नाहर मिले, बाग बीर ते कौन।

गद्य-रचना में भी उर्दू भाषा में उल्लेखनीय प्रगति अज़ीमाबाद में हुई। एमादुद्दीन फुलवारवी की रचना सिराते मुस्तकीम इस दिशा में पहला प्रयास थी। इस परंपरा को समृद्ध बनाने में सादिकपुर के धर्माचार्यों, विशेषकर इनायत अली और विलायत अली की भूमिका निर्णायक रही। इनके रिसायल, धार्मिक विषयों पर लेख इस संदर्भ में विशेष महत्व रखते हैं। एक अन्य स्तर पर, नवाब इमदाद इमाम 'अस्र' ने यूरोपीय क्लासिकी साहित्य का उर्दू में अनुवाद करके होमर, वर्जिल, शेक्यपीयर, दांते और गोएटे से उर्दू भाषियों का परिचय कराया। स्मरणीय है कि साहित्यिक रचनाओं का वह स्वर्णिम युग उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तराद्ध से बीसवीं के पूर्वाद्ध तक निरंतर बना रहा। यहां यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि राजनैतिक महत्व की समाप्ति के बाद ही सांस्कृतिक वैभव का यह अध्याय रचा गया और इसके प्रभाव स्वतंत्रता-प्राप्ति तक किसी न किसी रूप में बने रहे।

Created by Bhartesh Mishra

दिल्ली और लखनऊ की तरह अज़ीमाबाद के भी साहित्यिक और सांस्कृतिक जीवन में मुशायरे, कवि-सम्मेलन विशेष महत्व रखते थे। इनका आयोजन सामान्य रूप से किया जाता था और अधिकतर इसमें शहर के नवाबों और अन्य गणमान्य व्यक्तियों का योगदान रहता था। ऐसे आयोजनों की विस्तृत चर्चा शाद अज़ीमाबादी की रचना नक्शे पायदार में उपलब्ध है। एक अनोखा मुशायरा अक्तूबर 1902 में आयोजित हुआ जो छः दिनों तक निरंतर चलता रहा। इसे बादशाह नवाब ने अपने आवास पर आयोजित कराया था और शहर के सभी प्रसिद्ध शायरों ने इसमें अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। वस्तुतः यह मुशायरा एक चुनौती के जवाब में हुआ था, जब लखनऊ से किसी व्यक्ति ने छः मिसरे, शेर की एक पंक्तिबद्ध तरह के रूप में भेजे थे ताकि उन्हीं के अनुरूप शेर अज़ीमाबाद के शायर कहें। प्रत्येक तरह की गज़लें एक दिन में कही गयी और इस तरह यह मुशायरा छःदिनों तक चला। इसकी चर्चा समकालीन समाचार-पत्र अल-पंच में बड़ी धूमधाम के साथ हुई।

अज़ीमाबाद के सांस्कृतिक जीवन में मजलिस, सोज़खानी और मीलाद की महफ़िलें भी सामान्यतः आयोजित होती थीं। मजलिसों में करबला में इमाम हुसैन की शहादत की घटना की चर्चा की जाती थी। सोज़खानी में मर्सिये पढ़े जाते थे। मीलाद की महफिलों में पैग़म्बर हज़रत मोहम्मद की जीवनी और उपदेशों के संबंध में प्रवचन दिये जाते थे। इस कार्य में दक्ष वक्ता और कवि अज़ीमाबाद में काफी बड़ी संख्या में बसे थे। इनमें कुछ को अन्य नगरों में भी प्रवचन देने या मर्सिये पढ़ने के लिए निमंत्रण देकर बुलाया गया था। कुछ लोगों को रंगून, यंगोनद्ध से भी बुलाया गया था।

ऐसी सभाओं या आयोजनों में आतिथ्य और स्वागत का विशेष ध्यान रखा जाता था। इनमें प्रचलित संस्कार, उठने-बैठने के तौर तरीके खान-पान आदि के संबंध में यदि अज़ीमाबादी की रचना में विस्तृत विवरण मिला है। इनके अतिरिक्त मनोरंजन के अन्य तरीकों की भी चर्चा मिलती है। गर्मी के मौसम में और सावन के महीनों में बागों या उद्यानों में सभाएं आयोजित की जाती थी। पतंगबाजी, बटेरों की लड़ाई और मुर्गों की लड़ाई भी मनोरंजन के साधन थे और अक्सर इनमें शर्तें लगाई जाती थीं। एक अवसर पर बटेरों की एक लड़ाई में दो हजार रुपयों से अधिक तक बाजी लगायी गयी थी। गंगा नदी में नौकाविहार भी मनोरंजन का प्रमुख साधन था।

मनोरंजन का एक अन्य लोकप्रिय साधन नृत्य और गायन था। अज़ीमाबाद का केन्द्रीय क्षेत्र, जो वर्तमान में चौक एवं खाजकलाँ के बीच स्थित है नर्तकियों और गायिकाओं का प्रमुख केन्द्र था। यह साधारण वैश्याएं नहीं थीं बल्कि इनमें कई अच्छी कवयित्रियां थीं; कई एक ने कल्याणकारी और परोपकारी कार्यों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। नृत्य एवं गायन की इन सभाओं में शहर के सभी गणमान्य लोग उपस्थित रहा करते थे। ऐसी सभाओं के भी कुछ नियम और

संस्कार होते थे जिनका पालन किया जाता था। जैसे एक मनोरंजक नियम यह था कि संगीत की सभाओं में शाम का समय जवानों के लिए, देर रात अधिक आयु वालों के लिए और अर्द्धरात्रि के बाद का समय वृद्धायु व्यक्तियों के लिए आरक्षित था।

इसी काल में शिल्प और कला भी उल्लेखनीय प्रगति अज़ीमाबाद में हुई। चित्रकला की विशिष्ट शैली का विकास हुआ जो पटना कलम के नाम से विख्यात हुई। इसका विकास अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ और इसका प्रमाण बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक निर्णायक रहा। लगभग डेढ़ शताब्दियों तक चित्रकला का एक प्रमुख केन्द्र इस नगर में रहा। इसके उत्कृष्ट प्रतिनिधियों में सेवकराम, हुलास लाल, शिवदयाल लाल आदि थे। इस परंपरा के अंतिम प्रतिनिधियों में ईश्वरी प्रसाद का नाम आता है जिनकी मृत्यु 1948 में हुई। पटना कलम के यह चित्र शाही परंपरा से अलग थे और इनकी सबसे बड़ी विशिष्टिता यह थी कि इनमें आम लोगों के जीवन का चित्रण होता था। इस शैली के कई सुंदर और आकर्षक नमूने पटना संग्रहालय में सुरक्षित हैं जिनमें लोहार, तांगेवाला, मदारी, बंजारा, पालकी उठाए कहार, आदि के चित्र शामिल हैं। त्यौहारों और उत्सवों का भी चित्रण इस शैली में सामान्य रूप से किया गया। शाही कला और लोककला के बीच समागम का यह एक अद्‌भुत किंतु सफल प्रयोग था जो यूरोपीय कला से भी कहीं-कहीं प्रभावित था।

कई सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ और गायक भी अज़ीमाबाद से संबद्ध रहे। कव्वालों में गफूर, अलीजान, याकूब, मोहमद रजा, कालेखान आदि ने अपनी गायन शैली के कारण खूब यश और धन कमाया। पटना के कुछ कव्वालों के बाद में ग्रामोफोन रिकार्ड भी बने। महिला गायिकाएं भी काफी सुप्रसिद्ध हुई और इन्हें नगर में काफी मान-सम्मान हासिल था। ठुमरी और दादरा गाने में इन्हें विशेष ख्याति प्राप्त थी। कुछ ऐसी महिलाएं भी थीं जो शाम को घरों में जाकर कहानियाँ सुनाने का काम करती थीं ताकि महिलाओं और बच्चों का मनोरंजन हो सके। शहर के लगभग सभी बड़े रईसों और नवाबों से इनका आना जाना था। महिलाएं कई अन्य व्यवसायों में भी प्रवीण थीं। कपड़े पर फूल काढ़ने, जरदोजी का काम करने, कपड़े की गुड़ियाएं और खिलौने बनाने जैसे कामों में अनेक महिलाएं जुड़ी थीं और यही उनकी जीविका का साधन था। कुछ महिलाएं पुस्तकों की प्रतियां लिखने का काम करती थीं। शीशे पर खताती, सुलेखबद्ध करने वाली महिलाएं भी थीं। ऐसे नमूने सजावट के काम में आते थे। शीशे और काँच की वस्तुएं भी काफी मात्रा में बनायी जाती थीं। इनको पटना से बाहर भी निर्यात किया जाता था। शेख मियाँ शीशागर को इस शिल्प में विशेष दक्षता प्राप्त थी। उनकी बनाई गई वस्तुओं की प्रदर्शनी भी आयोजित हुई और उन्हें प्रशस्ति-पत्र भी प्रदान किये गये। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ होने और विदेशी उत्पादों के बढ़ते हुए आयात के कारण इन स्थानीय शिल्पों की स्थिति क्षतिग्रस्त हुई। एक और स्थानीय शिल्प

Created by Bhartesh Mishra

आतिशबाजी से संबंधित था। मुसलमानों में शबेबरात के अवसर पर और हिन्दुओं एवं मुसलमानों दोनों ही में शादी-विवाह के अवसरों पर आतिशबाजी का व्यापक उपयोग होता था।

अज़ीमाबाद में कई विदेशी यात्री भी आए। इनमें ईरानी यात्री एवं धर्माचार्य मुल्ला अहमद बहबहानी का यात्रा वृतांत मीरातुल अहवाले जहांनुमा सबसे विस्तृत और मनोरंजक हैं। बहबहानी ने इस नगर में काफी समय बिताया। यहां के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन की चर्चा भी उसने विस्तार से की है। यहां के शिक्षा केन्द्र, सुविख्यात विद्वान, साहित्यकार, हकीम, कलाकार आदि की उसने चर्चा की है। वह कुछ ऐसे अंग्रेज अधिकारियों की भी चर्चा करता है जो उर्दू भाषा का अच्छा ज्ञान रखते थे और उर्दू में शायरी भी करते थे। एक अन्य यात्री, अंग्रेज पादरी बिशप हीबर था जो अज़ीमाबाद के पश्चिम की ओर विस्तार और नये नगर के विकास का वर्णन करता है। इन विवरणों के माध्यम से अज़ीमाबाद के संक्रमण का अध्याय भी सामने आता है।

अज़ीमाबाद की इस संस्कृति की सबसे आकर्षक विशेषता थी इसका संश्लेषणात्मक रूप। इसे सही अर्थों में गंगा जमुनी तहजीब या संस्कृति कहा जा सकता है। इसके निर्माण में हिन्दुओं और मुसलमानों का सम्मिलित योगदान हर स्तर पर देखा जा सकता है। धार्मिक जीवन में सहिष्णुता और सद्भाव का पाठ यहां सूफी संतों ने वस्तुत: एक सहस्त्राब्दी की लम्बी अवधि में प्रसारित किया। ग्यारहवीं शताब्दी में मनेर से आरंभ होने वाली सूफियों की परंपरा इस क्षेत्र में आज भी एक जीवंत परंपरा है जिसके साक्ष्य सूफियों की दरगाहों पर होने वाले उर्स और अन्य समारोहों में देखे जा सकते हैं। सूफी परंपरा से प्रत्यक्षत: संबंधित न रहने वाले संत और फकीर भी, जिन्हें सामान्यत: मजजूब कहते हैं, इस नगर में सक्रिय रहे और इन्होंने धर्म के रूढ़िवादी रूप को त्याग कर मानव प्रेम और सेवाभाव के उपदेश दिए। अठारहवीं शताब्दी का काल इस क्रम में अधिक महत्वपूर्ण रहा। अज़ीमाबाद मुहर्रम अपनी विशिष्ट शान रखता था। मुहर्रम के अखाड़ों और मजलिसों में मुसलमान और हिन्दू दोनों बिना किसी भेदभाव के भागीदारी रखते थे। आज से कोई बीस साल पहले तक भी मुहर्रम के अखाड़ों में चुन्नी लाल बांका का अखाड़ा अत्यन्त प्रसिद्ध था। नाच-गान और मनोरंजन की अन्य सभाओं में हिन्दू-मुसलमान का कोई भेदभाव न था। ईद और होली के त्यौहारों में हिन्दू-मुसलमान किसी संकोच के बिना एक दूसरे के घरों में जाते, बधाइयाँ देते और साथ मिलकर हर्षोल्लास मनाते।

फारसी और उर्दू साहित्य को समृद्ध बनाने में हिन्दू कवियों के योगदान की चर्चा पहले भी की गयी है। राजा कल्याण सिंह 'आशिक' की मसनवी महाकाव्य की कुछ पंक्तियों के उद्धरण यहां दिये जा रहे हैं जो उन्होंने इस्लाम धर्म के प्रवर्तक हज़रत मोहम्मद की प्रशंसा में लिखी थीं—

मोहम्मद है महबूब परवरदिगार, मोहम्मद है मतलूबे परवरदिगार

मोहम्मद की सबसे बड़ी शान है, मोहम्मद का चाकर सुलैमान है।

अज़ीमाबाद में फारसी की शिक्षा प्राप्त करने राजा राजमोहन राय का भी आगमन हुआ। मुल्ला बहबहानी के अनुसार यहां के फारसी विद्वानों की चर्चा ईरान में भी आम थी।

स्मरणीय है कि विदेशी यात्रियों ने भी अज़ीमाबाद के बौद्धिक और सांस्कृतिक जीवन की गौरवगाथा का वर्णन किया है और इसकी संश्लेणात्मक प्रवृत्तियों का उल्लेख किया है। यह प्रवृतियां अब भी वर्तमान हैं।

Created by Bhartesh Mishra

यत्र विश्वं भवत्येक नीड़म्

गरिमा श्रीवास्तव

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने विश्वभारती की कल्पना एक ऐसे विश्वविद्यालय के रूप में की जो भारतीय संस्कृति का केन्द्र हो जहां तपोवन की अवधारणानुसार स्वावलम्बन हो कला और ज्ञान के विविध पक्षों का विकास होने के साथ-साथ प्रकृति से मानव का निकट संपर्क हो। विश्वभारती की संकल्पना से भी पूर्व रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ने 1888 में कलकत्ते से लगभग 150 कि.मी. दूर बोलपुर में शांतिनिकेतन आश्रम की नींव रखी। यह आश्रम उन्होंने ध्यान केन्द्र के रूप में स्थापित किया। यहाँ पर एक विद्यालय और पुस्तकालय भी बनाया गया।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने यहां विद्यालय का प्रारम्भ 1901 ई० में किया। 21 दिसम्बर को हुए उद्घाटन समारोह में आश्रमवासी एवं पांच विद्यार्थी थे। चार लड़के कलकत्ते के और पांचवे थे रवीन्द्रनाथ के पुत्र रथीन्द्रनाथ। उद्घाटन समारोह मंदिर में हुआ और सभी छात्रों को लाल रेशमी धोतियां और चादरें दी गई। सत्येन्द्रनाथ टैगोर ने प्रार्थना सभा आयोजित की।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की साकार कल्पना थी यह विद्यालय जहां उन्होंने प्रकृति को और अधिक नजदीक से देखा। प्रकृति के नैकट्य भाव के कारण रवीन्द्रनाथ ने शांतिनिकेतन में सहज तथा सरल जीवन शैली को बढ़ावा दिया। आडंबर और कृत्रिमता सहज जीवन से दूर करने के साधन हैं। आश्रम जीवन के बारे में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है ''आश्रम में कोई जूता-चप्पल नहीं पहनता था। केशतेल या दंतमंजन वर्जित थे'' उनकी माँ मृणालिनी के लिए वह परीक्षा की घड़ी थी जब रवीन्द्रनाथ ने अपने पुत्र को छात्रावास में रहने के लिए कहा।

प्रारंभिक दिनों में शांतिनिकेतन विद्यालय की छवि कलकत्ते के भद्रलोक समाज में हास्यस्पद थी। कविगुरु की अव्यावहारिक कल्पना, भद्रजनों के मुख पर तिर्यक मुस्कान का कारण थी। वे लोग छात्रों का झोंपड़ियों में रहना, वृक्षों की छाया में अध्ययन-अध्यापन, जल-आपूर्ति की समस्या की आलोचना करते थे, क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से यह विद्यालय कपोल-कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं था, जो टैगोर की कवि प्रकृति को व्यक्त करता था।

अपने इंगलैंड प्रवास (सितम्बर 1878 से फरवरी 1880) के अनन्तर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने पाश्चात्य संस्कृति को नजदीक से देखा और समझा। भारतीय संस्कृति की शिक्षा व्यवस्था के विषय में भी वे सतत् चिन्तनरत थे। शांतिनिकेतन न केवल उनकी कल्पना बल्कि उनकी व्यावहारिक चिन्ताधारा को निरूपित करने वाला विद्यालय बना। वे भारतीय शिक्षा-पद्धति से असंतुष्ट थे। वे परम्परागत स्कूली व्यवस्था के विरोध में थे। बच्चों का ज्ञान सिर्फ बाल-साहित्य तक ही सीमित रहना चाहिए, वे इससे असहमत थे क्योंकि बाल मनोविज्ञान से पूर्णत: अनभिज्ञ लेखक भी बाल साहित्य की रचना करते हैं और बच्चों को मूर्ख एवं अज्ञानी बनाते हैं। रथीन्द्रनाथ की पुस्तक ऑन द ऐजेज ऑफ टाइम के अनुसार रथीन्द्रनाथ और बेला (पुत्र एवं पुत्री) ने बंगला संस्कृति और अंग्रेजी के कई महत्वपूर्ण गद्य-पद्य को शीघ्र ही स्मरण कर लिया। उनकी पत्नी मृणालिनी दोनों बच्चों को गृहकार्य में दक्ष करती थीं। वे नौकरों को प्रति रविवार को छुट्टी दे दिया करती थीं और बच्चे पाक-कला सीखा करते थे।

शांतिनिकेतन के पांच अध्यापकों में से तीन ईसाई मतावलंबी थे। यह विद्यालय प्राचीन भारतीय तपोवन की आधुनिक अवधारणा का प्रतिरूप था। जातिप्रथा जैसे मुद्दे को टैगोर निजी चुनाव का विषय मानते थे। 1915 में जब महात्मा गांधी शांतिनिकेतन आए तब तक ब्राह्मण छात्र अन्य छात्रों से पृथक भोजन करते थे। टैगोर की यह धारणा थी कि जाति और धर्म व्यक्ति के निजी चुनाव के प्रश्न हैं, किसी बाह्य दबाव के नहीं। वैसे भी उन्होंने धर्म की अपेक्षा सौंदर्य-बोध, सुरुचि और सरल जीवन शैली पर ज्यादा बल दिया।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के देहवसान के बाद शांतिनिकेतन, जिसमें विद्यार्थियों से कोई फीस नहीं ली जाती थी, के लिए धन को एकमात्र स्रोत त्रिपुरा के महाराज का कोश था। इसके अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ की निजी सम्पत्ति, उनकी रचनाओं के प्रकाशन से हुई आय से विद्यालय को आर्थिक सहायता मिलती थी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर को 1913 में गीतांजलि के लिए नोबेल पुरस्कार मिला। यह पुरस्कार पाने वाले वे पहले एशियाई थे।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने शांतिनिकेतन को विश्वविद्यालय के रूप में विस्तृत करने की योजना बनाई। सन् 1918 से मृत्युपर्यन्त विश्वभारती ही उनके मन-मस्तिष्क को आच्छादित किए रही। रवीन्द्रनाथ ने इसे विश्वभारती का नाम दिया। विश्वविद्यालय का सिद्धान्त वाक्य यत्र विश्वं भवत्येक नीड़म् जहां समूचे विश्व का मिलन एक नीड़ में होता है।

विश्वभारती के बारे में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपने विचार पहली बार व्यवस्थित ढंग से 'भारतीय संस्कृति का केन्द्र' शीर्षक निबंध में रखे। रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—''विश्वभारती

Created by Bhartesh Mishra

पश्चिम और पूर्व के अध्येताओं का केन्द्र बनेगी। साथ ही यह एशिया के अतीत और वर्तमान की वाहक होगी जिससे प्राचीन विचारधाराओं एवं शिक्षण को आधुनिकता से जोड़ा जा सकेगा।''

विश्वभारती के सिद्धान्तों के विषय में विश्व को बताना जरूरी था। इस प्रक्रिया में उन्होंने सभी संस्कृतियों में अपने विश्वास की धारणा को पुष्ट किया। संस्कृति की अक्षुण्णता और गतिशीलता के लिए बाह्य झटके और दबाव अनिवार्य हैं। भारतीय मेधा की जीवंतता और जीवन शक्ति के लिए यूरोपीय संस्कृति के दबाव का उन्होंने स्वागत किया। यह बात दूसरी थी कि तत्कालीन बंगला समाज ने उनके विचारों को समझे बिना ही उन्हें पाश्चात्य संस्कृति का प्रशंसक सिद्ध कर दिया। टैगोर ने कहा कि ''यूरोपीय संस्कृति हमारे निकट न केवल जानकारी के साथ आई है, बल्कि उसके आगमन में गति भी है। हमारी आत्मसात करने की क्षमता पर्याप्त नहीं है और उसमें अनेक विकार हैं, यूरोपीय संस्कृति का दबाव हमें अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए जागृत करता है और अकर्मण्यता के विरोध में चैतन्य भी। इन अन्तर्विरोधों से हमारी अंतरात्मा में अपनी परम्पराओं को देखने की एक नवीन दृष्टि उत्पन्न होती है।'' इसलिए वे विश्वभारती को भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के सद्पक्षों का सम्मिश्रित संस्थान बनाना चाहते थे। कृत्रिम और आडम्बरी शिक्षा व्यवस्था की जगह सहज शिक्षण पर बल देते हुए उन्होंने कहा—''मुझे इस कृत्रिम व्यवस्था पर आपत्ति है, जिसमें हमारी राष्ट्रीय चिंता को विदेशी शिक्षा द्वारा आच्छादित कर लिया गया है। यह व्यवस्था हमारे स्वतंत्र चिंतन और नए विचारों के उद्भव और सत्य के साथ उसके मेलजोल को बाधित करती है। इसलिए इस बात की आवश्यकता अनुभव होती है कि हमारी अपनी संस्कृति के सभी तत्व और अधिक शक्तिशाली हों। इस शक्ति की आवश्यकता पाश्चात्य संस्कृति के विरोध के लिए नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति में उसके समावेश के लिए है ताकि यह हमारे लिए बोझ न बनकर पोषक तत्व का कार्य करे।''

प्रारंभ में शांतिनिकेतन में तीन विभागों की स्थापना की गई जो आज भी विश्वविद्यालय के प्रमुख विभाग हैं—'कलाभवन'—जिसे अवनीन्द्रनाथ के सर्वाधिक योग्य शिष्य नंदलाल बसु ने संचालित किया, 'संगीतभवन' जिसके संचालन का भार दिनेन्द्रनाथ टैगोर ने संभाला। तीसरा विभाग 'भारत विद्या' इण्डोलोजी का था, जिसकी स्थापना बौद्ध साहित्य, वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत, पाली, प्राकृत और आगे चलकर तिब्बती और चीनी शिक्षा के लिए हुई, जिसकी ओर बहुत से विदेशी छात्र आकर्षित हुए। कालान्तर में विश्वभारती विविध विषयों के अध्ययन का केन्द्र बनने लगी। चीन भवन, निप्पन भवन में जहाँ चीनी, जापानी भाषाओं का शिक्षण-बोध होने लगा वहीं विद्या भवन कला विषयों की स्नातक एवं स्नातकोत्तर शिक्षा एवं शोध कार्य के लिए स्थापित हुआ। शिक्षा भवन विज्ञान विषयों को उच्च शिक्षा के लिए, विनय भवन शिक्षण प्रविधि के लिए, पद्य भवन बंगला, इतिहास आदि विषयों की उच्च शिक्षा के लिए स्थापित हुए। ये विभाग

रवीन्द्रनाथ के बाद भी निरंतर स्थापित एवं विकसित हो रहे हैं, हाल ही में सूचना एवं संप्रेषण कला, पत्रकारिता के लिए नए विभाग की स्थापना हुई है। इन विभागों की स्थापना और भवन-निर्माण के पीछे गुरुदेव के प्रशंसकों, शांतिनिकेतन की नीतिगत धारणाओं में आस्था रखने वाले लोगों का योगदान रहा है। उदाहरणार्थ हिन्दी भवन, जिसकी स्थापना ऐण्ड्रयूज के प्रयासों के फलस्वरूप हुई। दीनबंधु सी.एफ. ऐण्ड्रयूज 1913 में शांतिनिकेतन आए और जीवन के शेष दिनों तक यहीं रहे। शांतिनिकेतन के संचालन में वे गुरुदेव का हाथ बँटाते रहे। 16 जनवरी, 1938 को रवीन्द्रनाथ ने हिन्दी भवन प्रतिष्ठा उत्सव में जनमंडली को संबोधित करते हुए कहा 'हिन्दी भाषा के प्रति मेरा आंतरिक अनुराग है। इसके माध्यम से लक्ष-लक्ष मनुष्य अपना मनोभाव प्रकट करते हैं। शांतिनिकेतन में हिन्दी-भवन की प्रतिष्ठा करने में जिन्होंने सहायता की है, उनके प्रति मैं धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ।'

दीनबंधु एण्ड्रयूज ने हिन्दी भवन का शिलान्यास किया। अपने वक्तव्य में हिन्दी भवन के उद्देश्यों और हिन्दी भाषा के भविष्य की चर्चा की 'हिन्दी भवन केवल हिन्दी-भाषा की शिक्षा देने के लिए ही नहीं प्रतिष्ठित होगा, यहाँ अतीत की हिन्दी-भाषा का गवेषण-कार्य होगा तथा भविष्य की हिन्दी भाषा बनेगी। यहाँ अरबी और फारसी भाषाओं की भित्ति पर निर्मित उर्दू तथा संस्कृत भाषा की भित्ति पर गठित हिन्दी भाषा के बीच घनिष्ठता स्थापित करने की चेष्टा की जायेगी और इससे सरल और बोध्य राष्ट्रीय भाषा हिन्दुस्थानी के प्रचलन की व्यवस्था होगी।' इस उद्धरण से स्पष्ट है कि गुरुदेव और उनके सहयोगियों का उद्देश्य शांतिनिकेतन को एशिया का एक प्रमुख शैक्षिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र बनाना था।

विश्वभारती के स्वप्न को यथार्थ रूप देने की दिशा में पहला कदम रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 1919 ई. में उठाया था। अग्रणी यूरोपीय विचारकों और कलाकारों के साथ, जिनमें आइंस्टाइन भी थे। स्वतन्त्रता के घोषणापत्र 'लॉ डिक्लेरेशन फौर इंडिपेंडेंस डी ला स्पिरिट' पर हस्ताक्षर किए। यह घोषणापत्र 1915 ई. के नोबेल पुरस्कार विजेता रोमां रोलां के मस्तिष्क की उपज थी। रोमां रोलां पूर्व और पाश्चात्य संस्कृतियों के मेल के पक्षधर थे। रवीन्द्रनाथ और रोमां रोलां में अक्सर विचार-विनिमय हुआ करता था।

1935 के मध्य तक आते-आते विश्वभारती की दशा शोचनीय हो गयी थी। सी.एफ.एण्डूज के कहने पर टैगोर ने गांधी जी को विश्वविद्यालय की आर्थिक दुरवस्था के बारे में बताया कि उनके प्रयास और निवेदन अपने ही लोगों के हृदय में अपेक्षित प्रतिक्रिया नहीं उत्पन्न कर सके हैं। गांधीजी ने अपने त्वरित उत्तर में कहा ''आवश्यक धन के लिए आप मेरे परिश्रम पर निर्भर रह सकते हैं ······ आपको इस वय में धन उगाहने के लिए, शांतिनिकेतन से बाहर नहीं

Created by Bhartesh Mishra

जाना चाहिए।'' स्पष्ट रूप से महात्मा का संकेत कविगुरू के गिरते स्वास्थ्य की ओर था। मार्च, 1936 में दिल्ली में जी.डी. बिड़ला ने गांधीजी के कहने पर विश्वभारती को 60,000 रु. की वित्तीय सहायता दी (ध्यातव्य है कि लगभग इतनी ही राशि सन् 1905 में राष्ट्रीय कोष के लिए टैगोर ने मात्र एक सभा में एकत्रित की थी)।

इस धन से विश्वभारती की वित्त संबंधी सभी समस्याओं का समाधान हो गया हो, ऐसा नहीं था। वित्त हेतु परमुखकातरता से टैगोर अपमानित अनुभव करते थे। फरवरी 1937 में टैगोर ने गांधी जी से विश्वभारती का ट्रस्टी बनने का अनुरोध किया था जिसे समयाभाव के कारण महात्मा गांधी ने अस्वीकार कर दिया था। महात्मा गांधी द्वारा प्रयुक्त शब्द 'भिक्षाटन यात्रा' (टैगोर की वित्तीय अनुदान प्राप्त करने के उद्देश्य से की गई यात्राएं) पर टैगोर ने आपत्ति करते हुए लिखा था ''मेरी यात्राएँ भारत की वित्तीय समस्याओं के समाधान के लिए ही नहीं, बल्कि मानव मस्तिष्क को संस्कृति से समाविष्ट करने के लिए हैं।'' टैगोर अपनी कविताओं और नाटकों द्वारा भारतीय सौंदर्य बोध और संवेदना की पहचान शेष विश्व में बनाना चाहते थे। अतएव ये यात्राएँ दोहरे उद्देश्य को लेकर की गईं। टैगोर ने जीवन को अंतिम घड़ी तक कलासाधाना से नाता नहीं तोड़ा। यहाँ तक कि उनका स्वस्थ्य निरन्तर गिरता गया। रवीन्द्रनाथ और आत्मीयों का आग्रह भी उन्हें नाटकों और रिहर्सलों से दूर नहीं रख पाता था। गांधी जी से तमाम मतभेदों के बावजूद उनका संबंध बहुत घनिष्ठ था। 1937 में गांधी जी ने आश्रम के लिए कुछ और वित्तीय अनुदान जुटाए और 1940 में वे विश्वभारती का उत्तरदायित्व संभालने के लिए सहमत हो गए।

पाश्चात्य शिक्षण पद्धति को निकट से देखने पर टैगोर ने भारतीय शिक्षण पद्धति के पारस्परिक अंतर को अनुभव किया। यूरोपीय विश्वविद्यालयों में अध्यापक और विद्यार्थियों का पारस्परिक संप्रेषण बहुत सहज है। वहाँ अध्यापक और विद्यार्थी दोनों, मानवीय संबंधों की ऊष्मा से ऊर्जस्वित होते हैं। इसके ठीक विपरीत भारतीय

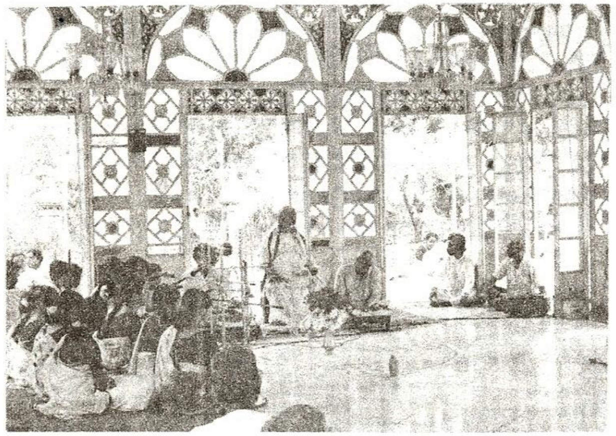

विश्वविद्यालयों में शिक्षण की प्रक्रिया ठोस और शास्त्रीय है। शिक्षण और ग्रहण की यह प्रक्रिया अमानवीय है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच की दूरी को रेखांकित करते हुए इस संदर्भ में यूरोपीय शिक्षण पद्धति की अनुशंसा की। टैगोर विश्वभारती के माध्यम से शिक्षण-व्यवस्था का आदर्श भारत एवं विश्व के सम्मुख रखना चाहते थे। वे स्वयं छात्रों के निकट रहकर उनसे रोजमर्रा की समस्याओं पर बातचीत किया करते थे। आश्रम में, अध्यापकों और विद्यार्थियों के रहने की व्यवस्था एक साथ ही थी। प्रसिद्ध फिल्मकार सत्यजित रे ने लिखा है—''मैं अपने जीवन में शांतिनिकेतन प्रवास के तीन वर्षों को विशेष फलप्रद मानता हूँ। ऐसा केवल रवीन्द्रनाथ के नैकट्य के कारण ही नहीं है—इससे पहले मैं बिल्कुल पाश्चात्य कला, संगीत और साहित्य से प्रभावित था। शांतिनिकेतन ने मुझे पूर्व और पश्चिम का सम्मिश्रण बनाया। एक फिल्मकार होने के नाते मैंने शांतिनिकेतन से जितना ग्रहण किया है उतना ही अमेरिकन और यूरोपीय सिनेमा से।''

शांतिनिकेतन में संस्कृति के जिस बीजवृक्ष का रोपण टैगोर ने किया था उसकी सुगंध जवाहरलाल नेहरू की पुत्री इंदिरा को भी खींच लाई। इंदिरा नेहरू ने 1934-35 का समय यहाँ व्यतीत किया। उन्हें आश्रम का भोजन कभी रुचिकर नहीं लगा। उन्होंने लिखा है— ''गुरुदेव के व्यक्तित्व के सभी पक्षों में मेरी रुचि थी केवल कवि के तौर पर नहीं—जब वे चित्र आँकते थे तब भी। बहुत-सी चीजें जो आज चलन में हैं—उनके बारे में उन दिनों किसी ने सुना भी नहीं था। उदाहरण के लिए पर्यावरण और पर्यावरण के प्रति गुरुदेव की चिन्ता-गुरुदेव पर्यावरण के लिए शांतिनिकेतन और श्रीनिकेतन में कार्य कर रहे थे। वे मेरा अंश बन गई थीं। ये हो सकता है कि ये विचार मुझमें पहले से ही रहे हों और शांतिनिकेतन में इन्हें अभिव्यक्ति का मार्ग मिला हो—मैं कह नहीं सकती · · · · मैं सोचती विश्वसंस्कृति की मिलन-स्थली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

धीरे-धीरे शांतिनिकेतन के प्रति लोगों की धारणा बदली थी। आश्रम में आकर बसने वाले लोग गुरुदेव की अवधारणा के व्यवहारिक स्तर पर परिचय पा सके। सुविधाओं के साथ सादगी का समन्वय आश्रम की विशिष्टता थी। प्रमुख साहित्यिक आलोचक बुद्धदेव बसु ने लिखा, ''यह ध्यातव्य है कि कोई स्थान विदेशियों को किस प्रकार अपने में समेट लेता है, उन्हें सच्चे राष्ट्र गौरव की शिक्षा देता है कि कैसे वे एक सच्चे अंग्रेज, सच्चे चीनी, बन सकते हैं · · · · · शांतिनिकेतन वह स्थान है।

विश्वभारती के सभी भवनों में गुरुदेव ने लिखा है, मैं श्यामला धरणी का वरपुत्र हूँ। श्यामल मिट्टी के साथ मेरा संबंध अधिक है। वहीं मेरा आकर्षण है। पक्के घर में रहना क्या मेरे लिए शोभादायक है। अपने इस मिट्टी के घर में मिट्टी हो कर रहूँगा, एक दिन मिट्टी में मिलकर मिट्टी हो जाऊंगा यही उचित है, पहले से ही इससे संबंध घनिष्ठ कर लूँ।

इसी श्यामली गृह में गुरुदेव की कल्पना में अल्पव्ययी मिट्टी के घर बनाने की योजना ने आकार लिया। इस तरह के घर ग्रामीण समाज की आवासीय समस्याओं का व्यावहारिक

Created by Bhartesh Mishra

समाधान थे। गुरुदेव विश्वभारती के आसपास के ग्रामों के स्वावलंबन और विकास के लिए चिंतनरत थे। वस्तुत: वे विश्वभारती को केवल बौद्धिक संस्कृति का केन्द्र नहीं, बल्कि अर्थ का केन्द्र भी बनाना चाहते थे। कृषि और पशुपालन की संस्कृति ने प्राचीन भारत को समृद्धि के शिखर पर पहुँचाया था। टैगोर ने श्रीनिकेतन में ग्राम्य विकास केन्द्र की स्थापना की—यह शांतिनिकेतन का ही विस्तार है। सहकारिता के आधार पर स्वावलंबन और रोजगार के अवसरों के लिए श्रीनिकेतन में हथकरघा, चमड़े की वस्तुएँ बनाने का कारखाना, कृषि विकास केन्द्र, नर्सरियाँ आदि खोली गईं। इन केंद्रों में उद्योगों का व्यावहारिक प्रशिक्षण दिया जाता है, साथ ही सहकारिता के आधार पर बैंक, दुकानें भी खोली गई जो सैंकडों लोगों के जीवनयापन का आधार बनीं। टैगोर ने ऐसे सांस्कृतिक संस्थान की कल्पना करते हुए लिखा था—''ऐसे संस्थान को आसपास के गांवों को भी साथ लेकर चलना होगा। उनकी आवासीय सुविधाएँ, सफाई-स्वास्थ्य, चारित्रिक और बौद्धिक विकास के कार्य-संस्थान के सामाजिक प्रकार्य का एक पक्ष होना चाहिए। एक वाक्य में, इसे कभी जलने वाली उल्का के समान-शेष विश्व से विलग एवं अपूर्ण न होकर अपने-आप में एक सम्पूर्ण विश्व होना चाहिए—स्वनामधन्य, स्वावलंबी, नितनूतन जीवन-धन से सम्पन्न।''

विश्व को जोड़ने और कर्मशील जीवन का सामंजस्य आनंद से करने के लिए उत्सव और अनुष्ठान महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने शांतिनिकेतन आश्रम की आनंदमयी धारा के मुख्य स्रोत के रूप में उत्सवों की कल्पना की—''आनन्द रूपम् अमृतम् यद्विभाति: ।'' इन उत्सव-अनुष्ठानों पर रवीन्द्रनाथ की विशिष्ट छाप है। कर्मयोग के साथ आनंद का सम्मिश्रण जीवन को नीरस नहीं बनने देता। शांतिनिकेतन के ये उत्सव और अनुष्ठान कर्म और आनंद का अभूतपूर्व सम्मिश्रण करते हैं। इन उत्सवों के तीन आयाम हैं (1) ऋतु उत्सव; (2) महामानव स्मरण; (3) विभिन्न धर्मों का मांगलिक स्वरूपोद्घाटन। इन उत्सव अनुष्ठानों का उद्देश्य मनुष्य के मनु, प्रकृति की विभिन्न ऋतुएँ और जीवन के नित्यप्रति के क्रियाकलापों में सामंजस्य स्थापित करना है। ये उत्सव वर्ष भर आयोजित होते हैं। जिनमें सर्वप्रथम पहला वैशाख है, यह बंगला नववर्ष का प्रारंभ दिवस है। महर्षि देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज में इस उत्सव का प्रवर्तन सामाजिक सूत्रबद्धता के माध्यम के रूप में किया। मानव-मानव को एकात्म करने के उद्देश्य से यह उत्सव आश्रम में बनाया जाता है। रवीन्द्रनाथ के देहावसान के बाद इसे रवीन्द्रनाथ के जन्मदिन के रूप में मनाया जाने लगा। नववर्ष की प्रभात बेला में सभी आश्रमवासी रवीन्द्र-गान करते हुए छातिम तल्ला और मंदिर परिसर की परिक्रमा करते हैं और एक दूसरे से शुभकामनाओं का आदान-प्रदान करते हैं।

बंगीय वर्ष 1325 से वर्षा मंगल नामक ऋतु उत्सव का प्रारंभ हुआ। काशी में प्रचलित ऋतु उत्सवों से गुरुदेव प्रभावित थे। उनकी इच्छा को ध्यान में रखते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन ने वर्षा मंगल का आयोजन कराया जो अत्यंत सफल रहा। सावन मास के अंतिम सप्ताह में इस उत्सव को आयोजित किया जाता है। वर्षा ऋतु के गीत-नृत्य आवृत्ति के भिन्न-भिन्न रूप प्रस्तुत किए जाते हैं। श्रावण में घने-काले मेघ घिर-घिरकर आश्रम के कण-कण, पत्ते-पत्ते को सिक्त कर

देते हैं। फूल-पत्ते पौधे, घास के विविध रंग, हरियाली-एक अनूठा दृश्य उपस्थित कर देती है। कोपाई नदी जल से भरकर खिलखिलाने लगती है। आषाढ़ के काले मेघ, शांतिनिकेतन को ढक लेते हैं, समूचे आकाश को कंपाती हुई तड़ित-झंझा में बुद्ध-पूर्णिमा के दिन धर्म-चक्र का अनुष्ठान होता है। श्रावणमास में वृक्षारोपण एवं हलकर्षण का अनुष्ठान होता है। वृक्षारोपण रवीन्द्रनाथ के महाप्रयाण के बाद से 22 श्रावण (गुरुदेव का तिरोधान दिवस) को मनाया जाता है। इस अनुष्ठान का वर्णन करते हुए उन्होंने प्रतिमा देवी को लिखा था—''तुम्हारे गमले के बकुलपेड़ से वृक्षारोपण अनुष्ठान सम्पन्न हुआ। पृथ्वी पर किसी पेड़ का ऐसा सौभाग्य नहीं। सुंदर बालिकाएँ परिष्कृत वेश भूषा में शंख बजाती, गीत गाती पेड़ के साथ चलकर यज्ञ स्थल पर पहुँची।

वृक्षारोपण के अगले दिन हलकर्षण उत्सव मनाया जाता है, जिसमें कृषि औजार और कृषकों की भूमिका प्रमुख होती है।

भाद्र के महीने में आश्रम का एक प्रमुख उत्सव शिल्पोत्सव मनाया जाता है। विश्वकर्मा पूजा के दिन शिल्पसदन श्रीनिकेतन के छात्र वेदमंत्रों और शिल्पोपयोगी नाना औजारों के साथ मंडप में आते हैं। इस दिन शिल्पसदन में वहाँ की निर्मित शिल्प सामग्री और ग्राम्य कलाओं की प्रदर्शनी आयोजित होती है।

शरद ऋतु के आगमन पर आश्रम में शरदोत्सव की कल्पना गुरूदेव ने की थी। शरद ऋतु में प्रकृति अपने पूरे सौंदर्य के साथ उपस्थित होती है। लगभग तीन सप्ताह तक (पूजा की छुट्टी के पहले) नाट्य घर, सिंह सदन, मुक्ताकाश में नाटक, आवृत्तियाँ, काव्य पाठ आदि चलते रहते हैं। अंतिम दिन आनंद/बाजार का आयोजन होता है। जिसमें स्कूल यूनिट के छात्र अपनी हस्तकलाओं का प्रदर्शन करते हैं। लाभांश को निर्धन छात्रों के लिए निर्मित कोष में जमा कर दिया जाता है।

पौष उत्सव— शांतिनिकेतन का एक प्रमुख और प्रसिद्धतम उत्सव है। सातवीं पौष महर्षि देवेन्द्रनाथ का दीक्षा-ग्रहण दिवस है। नाथ ने इस दिन समस्त जगत की अनुकूलता से विमुख होकर ईश्वरीय सत्य की खोज की थी। पौष मेले में दूरस्थ ग्रामों के लोग अपनी शिल्पकलाओं का प्रदर्शन करते हैं। मूर्तिकला, काष्ठकला-सजावट का सामान विविधोपयोगी वस्तुएँ इस मेले में प्रदर्शित एवं विक्रय की जाती हैं। नगर एवं ग्राम की संस्कृतियों का सुंदर मिलन यहाँ दिखाई देता है। साथ ही भूतपूर्व आश्रमवासियों, विद्यार्थियों के पुनर्मिलन का सुयोग भी इस मेले में जुटता है— आश्रम जैसे अखिल विश्व हो जाता है।

नंदन मेला विश्वभारती के कलाकारों का मेला है। यह आश्रम के कलाभवन के छात्रों द्वारा आयोजित किया जाता है। सितंबर की पहली तारीख को लगने वाले इस मेले का उद्देरय कला भवन के लिए अर्थकोष निर्मित करने के साथ-साथ भारतीय चित्रकला के महत्वपूर्ण हस्ताक्षर नंदलाल बसु को याद करना भी है। तीन दिसंबर 1883 को जन्मे नंदलाल बसु ने

Created by Bhartesh Mishra

भारतीय चित्रकला को विशिष्ट पहचान दी। यह मेला, नंदलाल बसु के प्रति श्रद्धा ज्ञापन एवं आगंतुकों और आश्रमवासियों के समक्ष कलाभवन के छात्रों की वर्षभर की कला को प्रस्तुत करता है। कलाभवन के छात्र अपनी बनाई कलाकृतियाँ प्रदर्शित करते हैं।

वंसतोत्सव या दोल आश्रम का एक महत्वपूर्ण उत्सव है, जो होली के दिन मनाया जाता है। नाच-गान और गुलाल-अबीर से दोल मनाया जाता है-बसंत की प्रकृति अपनी छटाएँ दिखाती है सेमल, कंचल शाल, पलाश-विविध रंगी पुष्पों से लद जाते हैं। गुरुदेव के अनेक गीत नवीन, अरुपरतन, चित्रांगदा, नाटक इसी वसंत को लेकर लिखे गए हैं।

इन अनुष्ठानों के अतिरिक्त प्रत्येक बुधवार को प्रात: मंदिर में वैतालिक का आयोजन होता है, जिसमें आश्रमवासी बड़े अनुशासन के साथ श्वेत वस्त्रों में सुसज्जित होकर प्रार्थना सभा में भाग लेते हैं। गांधी पुण्याह का आयोजन महामानव गांधी जी को स्मरण करने के उद्देश्य से किया जाता है। 1915 में गांधीजी शांतिनिकेतन आए थे। उनके आगमन की स्मृति में इसे (10 मार्च) कर्मदिवस के रूप में मनाया जाता है।

चैत्र मास के अंतिम दिन वर्ष के अन्त का उत्सव प्रारम्भ होता है "वर्ष समाप्त हो गया दिन की समाप्ति भी हो चली, चैत का अवसान।" चैत का अंतिम दिन मंदिर में प्रकाश-सज्जा से शेष वर्ष-पूरे वर्ष को भावभीनी विदाई दी जाती है "शेष नाहि जे, शेष कथा के बोलवे।" मंदिर में उपासना की जाती है; टैगोर के गीतों के साथ उत्सव और अनुष्ठानों का वर्ष भर चलने वाला चक्र समाप्त होता है, अगले वर्ष से पुन: प्रारंभ होने के लिए।

गुरुदेव की विश्वभारती अब केंद्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा पा चुकी है। आनंद पाठशाला-जहाँ किंडरगार्डन स्तर पर छोटे बच्चे खेल-खेल में शिक्षित होते हैं। पाठभवन जहाँ बच्चे कक्षा दस तक की शिक्षा पाते हैं उत्तरशिक्षा सदन जहां ग्यारहवीं-बारहवीं कक्षाएं पढ़ाई जाती हैं। स्नातक, स्नातकोत्तर एवं शोध स्तर की उपाधियों के लिए विविध विषयों के अलग-अलग विभाग हैं जो विभिन्न भवनों में हैं। अत्याधुनिक सुविधा संपन्न शिक्षा भवन-जहां विज्ञान की पढ़ाई होती है—जैविकी एवं रसायन विज्ञान के क्षेत्रों में नूतन आविष्कारों का प्रमुख केंद्र है। हिन्दी भवन एकमात्र ऐसा भवन है जिसे विभाग नहीं भवन कहा जाता है, यहाँ हिन्दी की उच्च शिक्षा की व्यवस्था है—आज विश्वभारती छात्रों, शोधकर्ताओं और पर्यटकों के आकर्षण का केंद्र है। दूरस्थ देशों के छात्र यहां शिक्षा ग्रहण करने आते हैं। भारतीय नृत्य-संगीत, कला, भाषा को सीखने-सिखाने में विश्वभारती अपूर्व योगदान दे रही है।

'संस्कृति' पत्रिका के अगस्त, 2001 अंक में प्रकाशित होने वाले लेखकों के पते

क्र.सं.	लेख का शीर्षक	लेखक का नाम, पता व फोन नं.
1	2	3
1.	सत्यं शिवं सुन्दरं का आदर्श व हमारा जीवन	डा. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी सांसद, 18, विलिंग्टन क्रीसेंट, नई दिल्ली-110001
2.	सांस्कृतिक समन्वयन और अनुवाद (कुछ विचार)	डा. एन.ई. विश्वनाथ अय्यर, 26/2035, कॉलेज लेन, तिरुवनन्तपुरम-695001
3.	डोगरी लोकगीतों की दुनिया	श्रीमति पदमा सचदेव, बी-242, चितरंजन पार्क, नई दिल्ली110001, फोन-6483158, 6218786
4.	तख्त-ए-ताउस	डा. परमानन्द पंचाल, 232-ए, पॉकेट-1, फेज-1, मयूर विहार, दिल्ली-110091, फोन-2251649
5.	छोटा नागपुर की संस्कृति और करम पर्व	डा. श्रवण कुमार गोस्वामी, नई नगड़ा टोली, चौथी गली (पूरब) रांची-834001
6.	राजस्थान के खेल-तमाशे और लोक नाट्य	डा. उषा कटारा, सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर, राजस्थान
7.	सिन्धुघाटी सभ्यता की भाषा और लिपि	श्री मधुसूदन मिश्र, बी-30, उत्तरांचल अपार्टमेंट, 5-पटपड़गंज, दिल्ली-110092 फोन : 2726164
8.	लोकगीतों में थिरकते आजादी के बोल	श्री गोरख नाथ, निदेशक (राजभाषा), संस्कृति विभाग, शास्त्री भवन, नई दिल्ली

Created by Bhartesh Mishra

1	2	3
9.	हमारे सांस्कृतिक प्रतीक — स्वस्तिक और मंगलकलश	श्रीमती धीरा वर्मा, स्नेहकांचन, 73-वैशाली, पीतमपुरा, दिल्ली, फोन-7219652
10.	भोजपुरी लोकगीत शैली — 'पंवारा'	डा. रमाशंकर श्रीवास्तव, आर-7, वाणी विहार, उत्तम नगर, न.दि. 59
11.	कविता और चित्र साथ-साथ	डा. सादिक, ए. जी. I/47 सी, विकासपुरी नई दिल्ली-110018
12.	हिन्दू एवं बौद्ध धर्मों में मानव-कल्याण-चिन्तन-तथा करूणा की विश्व संस्कृति	प्रो. रामगोपल शर्मा 'दिनेश', सी-25, मानव अपार्टमेंट, मयूर विहार -प्रथम, दिल्ली-110029 फोन-2718019
13.	थाईलैण्ड — भारतीय संस्कृति जहां आज भी जीवित है	श्री हिमांशु जोशी, 7 सी-2, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेंट, मयूर विहार, फेज-1, दिल्ली-110091 फोन -2252330
14.	अजीमाबाद : पटना के सांस्कृतिक इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय	डा. इमत्याज अहमद उपाचार्य, इतिहास विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना
15.	यत्र विश्वं भवत्येक नीड़म	सुश्री गरिमा श्रीवास्तव, हिन्दी भवन, विश्वभारती हिन्दी भवन शांतिनिकेतन, पश्चिम बंगाल

MGIPRRND—2603 Culture—500 Copies.

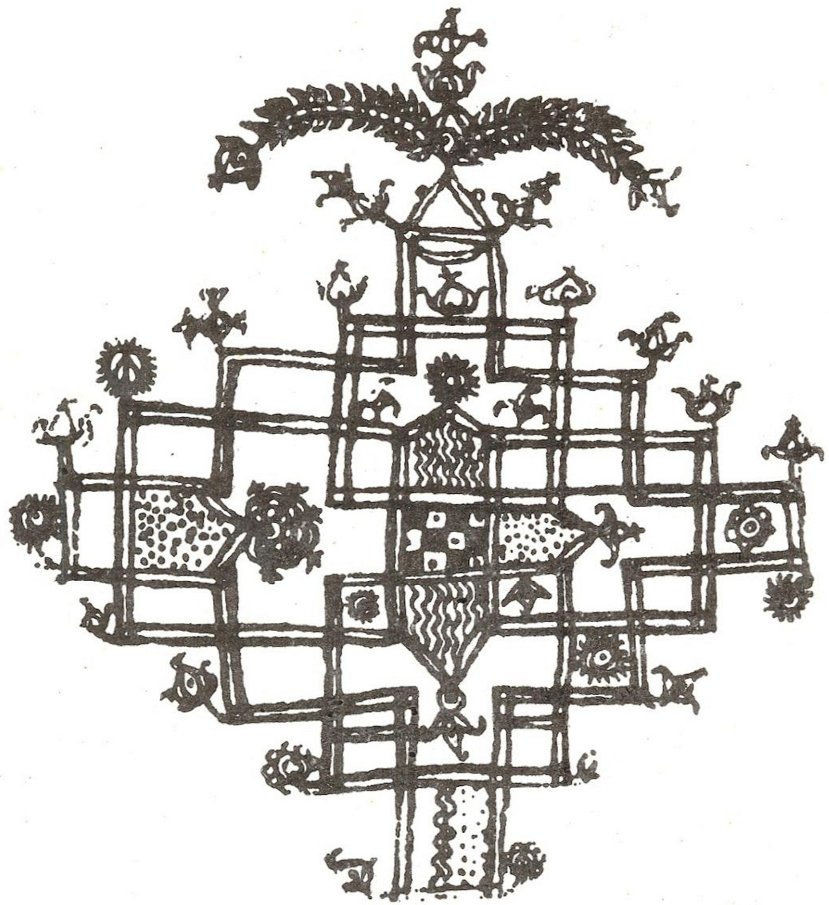

जनजातीय कला

Created by Bhartesh Mishra

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड, मायापुरी, नई दिल्ली-110064 द्वारा मुद्रित।
2001

Created by Bhartesh Mishra